# THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178943

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H83.1/RIGA Accession No. G.H.1763
Author रामकृष्ण
Title अपना राज : अपने आदमी 1963
This book should be returned on or before the date last marked below.

# अपना घर : अपने आदमी

रामकृष्ण

अमृता प्रकाशन
पोस्ट बॉक्स १२, लखनऊ

प्रथम संस्करण, १९५३

❀

प्रकाशक

रामकृष्ण

ऋता प्रकाशन

२५, रामतीर्थनगर, लखनऊ

❀

मुद्रक

दीनदयालु श्रीवास्तव

वेदान्त प्रिंटिंग प्रेस

२५, रामतीर्थनगर, लखनऊ

❀

आवरण

कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव

❀

सर्वाधिकार सुरक्षित

❀

मूल्य दो रुपया

❀

# सूची


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | अपना राज : अपने आदमी | .... | .... | | १ |
| २. | केले के खम्भे | .... | .... | .... | ३० |
| ३. | रोशनी | .... | .... | .... | ४५ |
| ४. | बिना चौखटे की तस्वीर | .... | .... | .... | ६२ |
| ५. | रूप और ऋतु | .... | .... | .... | ७६ |
| ६. | मूल्यांकन | .... | .... | .... | ६४ |
| ७. | चुनाव | .... | .... | .... | १०७ |
| ८. | खरबूजे | .... | .... | .... | ११५ |
| ६. | दाँत | .... | .... | .... | १२३ |

अपनी कहानियों का यह पहिला संग्रह आपके हाथों देते हुए मुझे हर्ष है। एक दो के अतिरिक्त इसकी सभी कहानियाँ अपेक्षाकृत पुरानी हैं और आज से चार पाँच वर्ष पूर्व लिखी गयी थीं। इन कहानियों में सुन्दर की अपेक्षा सत्य का सहारा अधिक लिया गया है और इससे पढ़ने वालों को इनमें कटुता का आभास शायद कुछ ज्यादा मिले। पर यदि ऐसा न होता तो लेखक का यह दावा भी गलत साबित होता कि इन कहानियों में उसने आज के जीवन का सही खाका पेश करने का प्रयत्न किया है, और सही चीज के चित्रण में सुन्दरता का वहीं तक सहारा लिया जा सकता है जहाँ तक वह सत्य के असली रूप पर परदा डालने की कोशिश न करे। इस संग्रह की लगभग प्रत्येक कहानी इसी भाव से लिखी गयी है, और इनमें से कई का सामयिक महत्व यद्यपि आज नहीं के बराबर है, तब भी वह इतिहास की चीज तो है ही—और इतिहास कभी पुराना नहीं पड़ता।

पुस्तक आप को पसन्द आनी चाहिए—और लेखक को यदि इस बात का विश्वास न होता तो वह आप से इसके लिये दो रुपये खर्च करने के लिये कह भी कैसे सकता था?

रा० कृ०

भैया के नाम

# अपना राज : अपने आदमी

मैं कफ़न-खसोट हूँ ? कफ़न खसोट ! तुम मुझे देख कर हँसते हो ? हाँ, मुझे देख कर तुम लोगों के होठों पर उसी तरह की हँसी आ जाती है जिस तरह इन सफ़ेद पोश कफ़न खसोटों को देख कर मुझे आती है ! तुम मुझे पागल समझते हो, मेरी बढ़ी हुई डाढ़ी और पीव से सराबोर बदन को देख कर मुझसे घृणा करते हो, गढ़े में धँसी हुई मेरी आँखों और अंगुल अंगुल चीथड़ों से बने हुए मेरे कपड़ों को देख कर नफ़रत से मुँह फेर लेते हो, मुझे अपने समाज से दूर समझते हो, अपने उस समाज से जो मुझसे भी बड़े कफ़न-खसोटों से भरा हुआ है ! मुझे अपने नजदीक देखना, एक क्षण के लिये भी अपने ऊपर मेरी छाया पड़ने

देना तुम्हें मान्य नहीं। तुम्हारी नजरों में हिकारत भरी है, तुम्हारे दिल में भाव है घृणा का, नफ़रत का। लेकिन.....लेकिन मैं तुम्हें कैसे बताऊँ, मैं हमेशा से ऐसा नहीं था। मुझे देख कर तब तुम्हें मतली नहीं आती थी, तुम्हें घृणा नहीं होती थी मुझसे, तब तुम मुझे भी अपने ही समाज का एक अंग समझते थे। मैं भी तुम्हारा साथी था, तुम्हारा सहयोगी था, तब अपने साथ मुझे पाकर तुम्हें लज्जा से सिर नहीं झुकाना पड़ता था। तुम मुझे अपने जैसा ही समझते थे, मेरे लिये तब तुम्हारा हृदय खुला था, तुम्हारा दिल सराबोर था—प्यार से, स्नेह से, स्नेह सिंचित आदर से। काश, मैं भी आज तुम्हारे जैसा होता, मेरे पास भी उन चीजों की, उन योग्यताओं की कमी नहीं होती, जो तुम्हारे पास हैं! काश, मेरे पास भी रुपया होता, धन दौलत होती, इज्जत होती, हाँ में हाँ मिलाने के लिये मेरे पास भी उतने ही दरबारी होते जितने कि आज तुम्हारे पास हैं! तब मैं भी तुम्हारे जैसा होता, तब मैं भी अपने जैसे व्यक्तियों को देख कर नफ़रत से मुँह फेर लेता! पर.....पर मैं नहीं चाहता तुम्हारे जैसा होना, हाँ हाँ, मैंने कह तो दिया, मैं नहीं चाहता तुम्हारे जैसा होना। मैं नहीं चाहता.....। मुझे सफ़ेद पोश कफ़न खसोटी पसन्द नहीं। मैं आत्मा का पुजारी हूँ. हृदय में मेरी श्रद्धा है—कोरे मस्तिष्क में नहीं, मुझे भावुक होना पसन्द है, मैं व्यापारी नहीं हूँ। अभी कल ही की तो बात है, तीस साल होते ही कितने हैं? अभी कल ही की तो बात.....

राजू ने आम की डाल पर बैठे बैठे कहा—दीना, देख तो नीचे कितने बढ़िया से आम गिराये हैं मैंने। चटनी बनेगी इनकी तो बड़ा मजा आयेगा खाने में। पता नहीं, माँ क्यों नाराज़ होती हैं टिकौरा खाने पर। क्यों दीना, क्या तेरी माँ भी तेरे ऊपर गुस्सा होती हैं ?

'हाँ, राजू, सभी माएँ नाराज़ होती हैं कच्चे आम खाने पर। कहती हैं—इससे फुड़िया निकलती हैं। पर मुझे तो यह बड़ा पसन्द है। क्यों राजू, जब हम लोग बड़े हो जायेंगे, तब तो कोई हमारे ऊपर नहीं नाराज होगा ?'

'नाराज कोई क्यों होगा रे ? हम लोग भी उस पर नाराज़ न हो जायेंगे ? बड़ों पर कोई नाराज़ थोड़े होता है। बाबू को ही देखो, अम्माँ नाराज होती हैं तो गुस्से में मुँह फुलाकर बैठ जाती हैं, पर बाबू का क्या कर लेती हैं ? दीना, हम बड़े होंगे तो मन भर के टिकौरे खायेंगे, सबके सामने खायेंगे; और दीना, मैं तुझे अपने पेड़ से खूब पेट भर के टिकौरे खिलाऊँगा। कोई कहेगा क्यों खिलाते हो, तो मैं कहूँगा वाह, क्यों न खिलाऊँ! यह मेरा बचपन का साथी है। और दीना, तब हम तुम साथ साथ पेड़ पर चढ़ेंगे, और खूब जी भर के टिकौरे तोड़ेंगे। तुम अच्छे अच्छे तोड़कर मुझे देना, मैं तुझे दूँगा, और घर आकर खूब बढ़िया नमक मिर्च बनायेंगे और उसके साथ खायेंगे। बड़ा मजा आयेगा दीना, है न ?'

पर इतने में ही राजू की पुकार हो गयी, उसको बुलाने के लिये

उसके पिता स्वयं मोटर पर चढ़कर आये थे। उस दिन राजू का विद्यारम्भ था, और उसके पिता मोटर पर उसे गुरु जी के घर ले गये थे। मैं पुकारता ही रहा--राजू.....राजू....., देख तो कितने बढ़िया टिकौरे हैं यह, चख के तो देख एक, पर वह मेरी आँखों के सामने, लम्बी सीधी सड़क पर, मोटर पर चढ़ा हुआ आँखों से ओझल हुआ जा रहा था, मेरे सामने ही उसके पिता उसे घसीटकर अपनी बीस हजारी मोटर पर बैठाकर ले गये, उसने मुझे देखा भी नहीं, एक नज़र भी उसकी मेरे ऊपर नहीं पड़ी, मैं पुकारता ही रहा—राजू.....राजू....., पर मेरी आवाज़ उसके कानों के परदों को छू भी नहीं सकी!

राजू पाठशाला में भरती हुआ, मैं भी हुआ, मैं उससे दूर नहीं रह सकता था। वह मुझसे एक बरस बड़ा था, उसके पिता मेरे गाँव के ज़मीन्दार थे, मोटर, बग्घी, गाड़ी, सभी कुछ तो उनके पास था। पर राजू स्कूल हमेशा मेरे साथ पैदल जाता, हम लोग साथ ही घूमते हुए वहाँ जाते, और साथ ही वापस लौटते। रास्ते में नदी किनारे बैठकर मछलियाँ मारना देखते, कभी अपने बाग़ में भी आते, और खूब चुन-चुनकर, हरे हरे टिकौरे खाते। राजू मुझसे कहता-- देख दीना, यह टिकौरे छोटे छोटे, कितने अच्छे हैं! बड़ जायेंगे, तो आम हो जायेंगे, मीठे, रसीले। लोग मजे से खायेंगे। हम भी तो इन्हीं की तरह छोटे हैं, फिर बड़े होंगे तो हमें भी लोग चाहेंगे, मानेंगे, प्यार करेंगे!'

'हूँ, क्या अभी प्यार नहीं करते हैं जो तब करेंगे? देखो, तुम ही मुझे कितना चाहते हो, हम दोनों में कितना प्यार है!'

'हाँ हाँ, यह मैं कब कहता हूँ, पर रहे तुम उल्लू के उल्लू।

अरे, बड़े छोटे में फरक होता है रे ! अभी हमें बड़े लोग प्यार करते हैं लड़के समझकर, हमें बहलाने की कोशिश करते हैं—जब हम रोते हैं ! पर, तब हमें कोई बहला थोड़े सकेगा, तब तो लोग हमसे मिलने आयेंगे, हमसे सलाह करने आयेंगे; अब की तरह थोड़े कि बड़ों के चुपचाप बातें करते वक्त अगर कभी हम पहुँच गये, तो—'बेटा, खेल आओ जाकर !' दीना, जब हम बड़े होंगे न, तो मैं तुझे अपने पास ही रक्खूँगा, मैं तुझे कहीं न जाने दूँगा, हम लोग साथ साथ रहेंगे .....'

'तो क्या अभी हम साथ साथ नहीं रहते ? देख राजू, मैं तो हमेशा तेरे पास ही रहता हूँ, हम लोग साथ स्कूल जाते हैं, साथ खेलते कूदते हैं.....'

'अरे, तब तुझे मैं अपने साथ, अपने घर में रक्खूँगा, समझा कुछ ? पढ़ लिखकर मैं बड़ा आदमी हो जाऊँगा, लोग बाबूजी की तरह मुझे भी सलाम करने आयेंगे और मैं धीरे से सिर हिलाकर उसका जवाब दूँगा। तब मैं जहाँ कहीं जाऊँगा, तुझे अपने साथ ले जाऊँगा, खूब घुमाऊँगा, सबसे बताऊँगा यह मेरा बचपन का साथी—दीना है। लोग कहेंगे.....'

पर मैं बीच ही में टोक देता—'वाह, तू तो ऐसी बातें कर रहा है जैसे तू ही कहीं का लाट हो जायेगा। मैं भी तो पढ़ता हूँ तेरे साथ, मैं भी पढ़ लिखकर बड़ा आदमी बनूँगा, तुझसे भी बड़ा। मैं कलक्टर बनूँगा, मेरे पास भी लाल चोगों वाले चपरासी रहेंगे, मेरे पास भी नीली मोटर रहेगी। और सुन राजू.....' मैं उसका कान उमेठ कर कहता, 'देख, जब मैं तेरे गाँव आऊँगा, तो मेरे लिये शिकार का बन्दोबस्त करना पड़ेगा, याद रखना, नहीं

तो मैं गवर्नर साहब से शिकायत कर तेरी राय साहबी छिनवा दूँगा, समझा !'

लेकिन हुआ वही, जो होना था ! राजू ने गाँव के मदरसे से मिडिल पास किया, और मैं फेल हो गया, मास्टर साहब ने कहा कि मैं सात जन्म भी इम्तहान में नहीं पास हो सकता। मैं हताश हो गया, करता भी क्या ! राजू एक दिन फिर मुझसे अलग हुआ, पर इस बार मेरी पहुँच से बहुत दूर होकर। उसके पिता ने उसे शहर भेज दिया था, आगे की पढ़ायी के लिये। उसके लिये एक दिन फिर नीली मोटर लायी गयी, और उस पर चढ़ के वह चला गया ! मैं देखता रहा, सूने आकाश की तरफ़, और वह, राजू, मुझे अपने गाँव में अकेला छोड़कर, बिलकुल निर्मोही की तरह, मुझसे दूर हो गया ! मेरी सिसकती आवाज़ और रोनी आखें भी उसको रोकने में समर्थ न हो सकीं। उसे उन आमों के पेड़ों की भी तो याद नहीं आयी, जिन पर बैठकर हम अपने भविष्य के जीवन के मंसूबे बाँधा करते थे। पर वे पेड़ तो उसे न भूले होंगे। और वे पेड़ ही अब मेरे साथी हो गये थे। मैं अब भी अपने बाग़ में जाता और घंटों, बन्दरों की तरह, एक डाल से दूसरी डाल पर कूदा करता। मुझे अब काम ही क्या था ? राजू चला गया था, पढ़ायी छूट गयी थी, पुस्तकों को मैंने ताक पर रख दिया था। काश ! मेरे पास भी रुपया होता, मेरे पास भी नीली मोटर होती ! दिल में पढ़ने की इच्छा थी, आगे बढ़ने की इच्छा थी, पर मैं बेबस था।

दिल के अरमान दिल में ही रह गये। मैं चाहता था, मैं भी बड़ा आदमी बनूँ, मैं भी पढ़ूँ लिखूँ, राजू की तरह मुझे भी मेरे पिता शहर भेजें। पर कोरी इच्छाओं से होता ही क्या है! इच्छाएँ यदि पूरी होने लगें तो यह पृथ्वी स्वर्ग ही न हो जाये! सपने भी कभी पूरे होते हैं? मैं स्वप्नदर्शी था, मैं सपने देखा करता था—अपने, राजू के, और उस नीली मोटर के; रात दिन मुझे यह चीजें नहीं भूलती थीं। नीली मोटर में तो मेरी जान ही बसती थी, मैं सोचा करता था, क्या मैं भी कभी इस योग्य हो सकूँगा कि इस मोटर की गद्देदार कुर्सियों पर, शान से, बैठ सकूँ! और राजू·····खैर, उसकी बात तो जाने ही दो। वह तो अब भी उस पर बैठता है। वह तो जमीन्दार का बेटा है, क्यों न बैठेगा! पर मैं? हाँ·····नहीं, कभी नहीं। नहीं, मैं कभी भी उस मोटर पर नहीं बैठ सकता, कभी नहीं। पर अगर मेरे पिता भी जमीन्दार होते, मेरे पास भी मोटर होती, मैं भी शहर पढ़ने जाता! पर उस बात का सोचना ही क्या, जो कभी पूरी ही न हो। सपने में रहना किसको अच्छा नहीं लगता, पर वही सपने जब डरावने हो जाते हैं, खूंखार, खौफ़नाक, तो हम सभी चाहते हैं कि वे हमसे इसी दम दूर हो जायें। मैं सपने देखता था राजू बनने के, पर जब पता चलता था कि वह तो कभी हो ही नहीं सकता, तो मेरी आँखें जहाँ की तहाँ रह जाती थीं। मेरे सामने शून्य गगन रह जाता था, सूना बाग़ रह जाता था, और वह सूनी सड़क रह जाती थी, जिस सड़क से होकर एक दिन राजू की नीली मोटर गयी थी। उस लम्बी सीधी सड़क को मैं घंटों निहारा करता, उसकी ओर देखते हुए मेरी आखें नहीं थकती थीं, और मैं सोचा करता था, इस

सड़क की लम्बाई को क्या कभी मैं भी पूरा कर सकूँगा ?

दो साल बीत गये। इस बीच राजू राजू से बढ़कर राजेन्द्र-नाथ हो गया था, और मैं दीना का दीना ही रहा था। राजू बीच बीच अब भी गाँव आया करता, मुझसे भी मिलता और शहर के हाल चाल बताता। मुझे अभी तक शहर जाने का मौका नहीं मिला था, और जब मैं सुनता कि वहाँ आसमान से बातें वाले मकान, और लम्बी चौड़ी, विशालकाय आग उगलने वाली मिलों की चिमनियाँ हैं, तो मैं आश्चर्य के झूले में झूलने लगता। राजू मुझसे कहता—चलो न शहर, देखो तो वहाँ की नयी नयी चीजें, तुम्हें ऐसी ऐसी चीजें दिखाऊँगा कि आँखें चौंधिया जायेंगी! जब वह सिनेमा की बातें करता, तब तो मैं सचमुच परियों के देश में पहुँच जाता! चलती फिरती, हँसती बोलती तस्वीरें! मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। सोचता जरूर, कैसा होगा शहर। क्या मैं भी कभी वहाँ जा सकूँगा? मैं राजू को देखता, देर तक टकटकी लगाये उसे देखा करता; विलायती सर्ज के कोट पतलून में कितना सुन्दर मालूम देता था वह! उसका प्रेम अब भी ज्यों का त्यों मेरे लिए कायम था। मुझे कितना मानता था वह! जब भी आता, घंटों मेरे पास बैठा रहता; हम फिर अपने आम के बाग जाते, पर इस बार टिकोरे खाने के लिये नहीं, केवल मन बहलाने के लिये। तब तक टिकोरे बढ़कर आम हो जाते थे, हम लोग उन्हें तोड़ कर घर लाते, और खूब मन भर के खाते!

एक गला, सुन्दर सा आम राजू को देते हुए मैंने कहा था—देखो राजू, कितना बढ़िया आम है यह ! खाकर देखो, कितना पतला, मीठा रस है इसका। तुम्हें याद है, पहिले हम लोग टिकोरे खाया करते थे, इन्हीं आमों के पेड़ों के। तब तुम कहा करते थे— यही बड़े होकर आम हो जायेंगे। देखो, हम लोग आज इन्हें कैसे आनन्द से खा रहे हैं। पर क्या इन आमों को भी अपने बचपन के दिन याद होंगे, जब यह छोटे छोटे थे, और हम छोटे लड़के इन्हें खा खाकर वक्त काटा करते थे ?

'पूँछो न इन्हीं से !'—और फिर मेरे गाल पर एक चपत लगाते हुए उसने कहा था—'बड़ी फिलासफी की बातें करने लग गये हो अब तो ! दीना, बचपन के दिनों की याद किसे नहीं रहती है ? उन सुनहरे दिनों की याद कभी भूल सकती है ? क्या तुम्हें वे दिन भूल गये, जब मास्टर साहब की नजर बचाकर हम लोग नदी के पुल पर बैठकर मछलियों का मारना देखा करते थे। कितने सुन्दर दिन थे वे !'

हाँ ! कितने सुन्दर दिन थे वे, अब सोचता हूँ तो आँखों में पानी भर आता है। राजू, दीना; और फिर राजेन्द्रनाथ बी० ए० और दीना; फिर देशमान्य नेता राजेन्द्रनाथ और दीना; फिर माननीय मंत्री राजेन्द्रनाथ और दीना; और अब·····अब भी तो राजेन्द्र नाथ वही हैं, उनका गाँव भी वही है, उन गाँव के आम के पेड़

भी वही हैं, पर मैं·····मैं ? राजू मिनिस्टर हो गया, देश के लिये उसने बड़ा त्याग किया था। मेरे साथ ही वह गाँधी जी के सत्याग्रह संग्राम में कूदा था, हम लोगों ने कदम से कदम मिलाकर अंग्रेजों के खिलाफ देशवासियों के युद्ध में भाग लिया था। वह पढ़ा लिखा था, खूब सूरत था, रुपये वाला था, उसके बुद्धि थी। यूनिवर्सिटी यूनियन की प्रेसिडेन्टी से सीढ़ी दर सीढ़ी पार करता हुआ वह अपनी प्रान्तीय काँग्रेस का सभापति हो गया था। उसने त्याग किया था, बहुत बड़ा त्याग किया था, क्योंकि वह धनवान था, त्याग करने के लिये उसके पास कोई चीज थी। पर मैं·····? मैं कर ही क्या सकता था ? चाहता मैं सब कुछ था, देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये महात्मा गाँधी के बनाये हवन कुण्ड में मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर देना चाहता था, मुझ पर तो उन दिनों दीवानगी छायी हुई थी; पर मैं देता ही क्या, मेरे पास था ही क्या ? सिर्फ अपना एक तन था, और था वह टूटा फूटा खपरैल, जिसमें रहकर मैं और मेरा परिवार अपनी जिन्दगी के दिन काट रहे थे। राजेन्द्र अब भी मेरे पास आता था, पर उसके बदन पर अब विलायती सर्ज के कोट पतलून नहीं होते थे, होती थी खादी की धोती, खादी का कुरता, खादी की टोपी और पैर में देसी चमड़े के मामूली चप्पल ! डेढ़ हाथ की लंगोटी वाले बूढ़े बाबा ने उस पर जैसे अपना जादू चला दिया था, उस पर ही क्या, हम सभी उसके चेले बन गये थे। मुझे याद है, पहले पहल मेरे हाथों में हथकड़ियाँ डालकर पुलिस के सिपाही जब मुझे जेल ले जा रहे थे, तो राजेन्द्र की आँखों में आँसू आ गये थे। मेरी पीठ पर हाथ फेरकर, ढाँढ़स बँधाते हुए उसने मुझसे कहा था—दीना, घबड़ाओ नहीं,

तुम्हें तो खुश होना चाहिए कि तुम हमारे गाँव के पहले आदमी हो जिसने धन मान की परवाह न करके देश की आवाज सुनी है। तुम देखो तो, तुम्हारे पीछे अभी कितने साथी पहुँचते हैं। जब तक हम अपने मुल्क को आजाद न करा लेंगे, तब तक चैन से न बैठेंगे.....

और सचमुच उस दिन से हमारे प्रान्त में जैसे आग ही लग गयी। सैकड़ों स्वयं सेवक रोज जेल पहुँचते और महात्मा गाँधी की जय के नारों से जेल की दीवारें कँपा देते। जेल के अधिकारियों के लिये हम लोग एक नये तजुर्बे थे। हम जैसे कैदियों से उन्हें पहिले कभी साबिका नहीं पड़ा था। वे हम लोगों से परेशान हो गये थे और जरा सी गलती पर हमें कड़ी से कड़ी सजा देते थे। मुझे याद है, एक बार जेल सुपरिन्टेंडेन्ट को उठकर सलाम न करने के कारण मुझे कोड़ों से पीटा गया था। उन कोड़ों के निशान अब तक मेरे बदन पर काली स्याही की लकीरों की तरह पड़े हुए हैं!

जेल में मैं रोज राजेन्द्र की राह देखा करता, पर वह न आया। जेल की ऊँची काली दीवारों के खौफनाक घेरे में मुझे अकेला भेज कर वह न जाने कहाँ रह गया था। मैं उसके ऊपर झुँझला उठता, मैं सोचता, अब जब भी वह मुझे मिलेगा, उसे खूब आड़े हाथों लूँगा। पर उस बार वह नहीं आया। वह अपने जिले का मुखिया था, और उसके गिरफ्तार होने से पूरा आन्दोलन ही ठंडा पड़ जाता। इससे उसने सत्याग्रह में भाग नहीं लिया, और बाहर ही रह कर युद्ध का संचालन करता रहा। अब तक वह प्रान्त की राजनीति का मुख्य स्तम्भ हो गया था, और बड़े बड़े मामलों पर

उससे सलाह ली जाती थी। इस मान ने भी उसके ऊपर अपना पर्दा नहीं चढ़ाया, वह वैसा ही भोला, सभ्य और शिष्ट था, जैसा कि मैं उसे बचपन में देखा करता था। मुझे याद है, जब मैं पहिले पहिल जेल से निकला था तो वह हमारे स्वागत के लिये फूल मालाओं का एक बोझ लिये फाटक पर खड़ा मेरा इन्तज़ार कर रहा था। एक बड़ा सा चमेली के फूलों से बना हुआ हार मेरे गले में छोड़ते हुए उसने कहा था—दीना, इस माला को कोरे फूलों की माला न समझना, यह तुम्हारे प्रति हमारी श्रद्धा का प्रतीक है। देखो तो, तुम्हारे स्वागत के लिये कितने आदमी जमा हैं। यह सब तुम्हें लेने आय हैं, तुम्हें....', और मैं भौंचक्का सा, अपने चारों ओर, देखता सा रह गया था। उस दिन तो राजू के प्रति मेरा प्यार आँखों से आँसू की धार बन कर घण्टों निकलता रहा—कितना सौम्य है वह, अभी तक तो वह मुझे नहीं भूला!

तब और अब....अब और तब, कितना फ़रक है इन दो शब्दों के बीच! मैं कहता हूँ, यह दूरी तुमने बनायी है, हाँ, तुम्हीं ने! तुम्हीं इस दूरी के बनाने के अपराधी हो। प्रकृति ने किसी को दूर दूर नहीं बनाया, भगवान किसी को छोटा बड़ा नहीं पैदा करता है। यह तुम मनुष्यों का काम है, हाँ, तुम्हीं ऐसे लोगों का, जो अपने को मनुष्य कहते हैं! फर्क ही फर्क तो है तुम्हारी इस दुनिया में, फर्क करने के अलावा तुमने और सीखा ही क्या है?

मनुष्य मनुष्य के बीच फर्क, जाति जाति के बीच फर्क, राष्ट्र राष्ट्र के बीच फर्क ! मैं पूछता हूँ, फर्क की इन लम्बी दीवारों को खड़ा करने में तुम्हें कौन सा सुख मिलता है ? क्या मजा आता है तुम्हें इन बनावटी लकीरों के खींचने में ? समता और स्वतंत्रता का नाम ले लेकर तुमने क्या नहीं किया है इन वहशी भावनाओं को पतन के गर्त तक पहुँचाने के लिये ?

'४२ के आन्दोलन में हम लोग साथ ही साथ जेल गये, पर वहाँ भी फर्क का ही शासन था। राजेन्द्र ए श्रेणी में रक्खा गया था, और मैं सी में। राजेन्द्र को खाने के लिए मक्खन और दूध मिलता था, मुझे बालू मिली हुई रोटी। राजेन्द्र को हर तरह की पढ़ने लिखने की सुविधा थी, मैं अपने घर एक पोस्टकार्ड लिखने के लिए तरस जाता था। हुक्म उदूली करने पर मुझे काल कोठरी की सजा मिलती थी, पर राजेन्द्र के लिए कोई ऐसा काम ही नहीं था जो हुक्म उदूली में शामिल किया जा सके। जेल अधिकारी पिछले कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से अनभिज्ञ न थे, वे जानते थे इस बार कांग्रेस जब सरकार बनायेगी तो राजेन्द्र अवश्य ही उसमें एक मंत्री होगा। इससे स्वभावतः वे उसकी इज्जत करते थे; ऐसी कोई बात नहीं होने देना चाहते थे, जिससे उसे तकलीफ हो !

पर हम जैसे साधारण कैदियों की फिकर किसे थी ? सुबह से शाम तक गाली, मार, ताड़ना। पर मुझे इस बात का अभिमान है कि सच्चे जेल जीवन का आनन्द मैंने उठाया, राजेन्द्र ने नहीं। भारतीय जेलों की क्या हालत है. इस पर मक्खन और रोटी उड़ाने वाले लीडरों से नहीं, हम स्वयं सेवकों से सवाल पूछो, और फिर देखो कि सुधार के नाम पर दिये गये दण्ड के बाद इन

चार दीवारों के अन्दर क्या क्या होता है ! बड़े बड़े नेताओं के लिखे हुए संस्मरण जेल जीवन की विभीषिकाओं की एक विडम्बना हैं, उन्हें पढ़ कर तुम नहीं जान सकते कि देश की आज़ादी के दीवाने सत्याग्रहियों को जेल के अन्दर बन्द रह कर क्या क्या अत्याचार सहने पड़े हैं। जिस दिन सी क्लास में बन्द एक मामूली कैदी अपने जेल जीवन की डायरी लिखेगा, उस दिन तुम्हारी मनुष्यता भी कराह उठेगी !

और उसके बाद की कहानी भी सुनोगे ? सुनोगे, तो खुशी से फूले न समाओगे ! हमें आज़ादी मिली, हाँ हाँ, आज़ादी, वही आज़ादी जिसके लिये हमारे न जाने कितने साथी जान पर खेल गये थे ! हमारे यहाँ भी खुशियाँ मनायी गयीं, घी के दिये जलाये गये, ऊँचे ऊँचे मंचों पर खड़े होकर हमारे नेताओं ने हमारे कार्यों की सराहना की। दिल्ली के लाल किले पर तिरंगा झंडा फहराया गया—वही तिरंगा झण्डा, जिसके मान की रक्षा ही हमारी सबसे बड़ी अभिलाषा रहती थी ! हमारे प्रान्त में भी कांग्रेस ने बागडोर सँभाली, जनप्रिय मंत्रिमंडल का निर्माण किया गया, और राजू—मेरा राजू, उसका एक सदस्य बना !

राजू मेरा साथी है, बचपन का साथी, हम लोग बाग़ में साथ साथ टिकौरे खाते थे, लड़ते थे, झगड़ते थे, और फिर दोस्त बन कर खेलने लगते थे ! राजू—मेरा साथी—हाँ हाँ, वही राजू,

जिसका जिक्र मैं कई बार तुमसे कर चुका हूँ, वही राजू, अब मिनिस्टर हो गया है, मिनिस्टर, सूबाई सरकार का सदस्य, राज करता है लोगों पर अब वह ! क्या समझते हो; मेरा साथी है वह, बचपन का साथी, कितनी ही बार हम दोनों में कुश्ती हो चुकी है, और मैं हमेशा उसे पछाड़ देता था। और वह नदी, वह बाग, वह मछलियाँ। मेरी आंखों के सामने सिनेमा की रील घूम जाती। 'दीना, जब हम बड़े होंगे न, तो मैं तुझे अपने पास ही रक्खूँगा, मैं तुझे कहीं न जाने दूँगा, हम लोग साथ ही साथ रहेंगे... और मैं कहता—तो क्या अभी हम साथ साथ नहीं रहते ? देख राजू, मैं तो हमेशा तेरे पास ही रहता हूँ, हम लोग साथ स्कूल जाते हैं, साथ खेलते कूदते हैं....अरे, तब तुझे मैं अपने साथ, अपने घर में रक्खूँगा, समझा कुछ ? पढ़ लिख कर मैं बड़ा आदमी हो जाऊँगा, लोग बाबू जी की तरह मुझे भी सलाम करने आयेंगे, और मैं धीरे से सिर हिलाकर उसका जवाब दूंगा। तब मैं जहाँ कहीं जाऊँगा, तुझे अपने साथ ले जाऊँगा, खूब घुमाऊँगा, सबसे बताऊँगा कि यह मेरा बचपन का साथी दीना है। लोग कहेंगे...'

तभी मैं चौंक सा पड़ता ! मैं देखता, मैं राजू के यहाँ बैठा हूँ। लोगों की भीड़ लगी है। लोग बारी बारी से आते हैं, और बातचीत करके, चले जाते हैं। शाम होती है। राजू पसीने से तर हो जाता है। मैं उसके सिरहाने बैठा हूँ। उसकी थकान मिटाने की कोशिश करता हूँ। वह कहता है—छुट्टी नहीं मिलती भाई काम से। इतना काम सर पर आ पड़ा है कि दम मारने की भी फुर्सत नहीं। सुबह से शाम तक पिसे रहो, कोल्हू के बैल की तरह। मुझसे तो, भाई, तुम ही लोग भले। आराम से

रोटी खाने का वक्त तो मिल जाता है। पर यहां....

मैं कहता—आओ, थोड़े दिन गाँव रह लो। वहां रहने से तुम्हें कुछ आराम मिल सकेगा, अच्छी हवा मिलेगी, दो दिन में फिर ताजे हो जाओगे। और फिर वहाँ आम खाना, उसी पेड़ के—याद है न ?--जिसके लड़कपन में हम लोग खाया करते थे !

'अरे, नहीं भाई, यह बात न कहो। यहाँ के लोग तो मुझे छोड़ते ही नहीं, कहते हैं, तुम्हारे जाने से सारा काम ही ठंडा पड़ जायेगा। और आम की जो बात तुमने कही, तो भाई, अभी उसी दिन बम्बई से सेठ हरभजनदास ने दो झाबे बढ़िया आम भेजे हैं। उन्हें ही खा लेता हूँ कभी कभी, जब मन करता है। गांव के देसी आमों में वह स्वाद कहाँ ? इन आमों को देखो तो जीभ में पानी भर आये। दिखाऊँ तुम्हें—'

'हां हां', मैं कहता, और फिर वह अपने नौकर को आवाज़ देता—जरा उस झाबे में से एक आम तो ले आओ। मैं उसे देखता, सूँघता, और जैसे ही खाने का उपक्रम करता, राजेन्द्र वह आम मुझसे ले लेता और नौकर को देते हुए कहता—रख आ जाकर झाबे में। देख, कल जो पार्टी दी है मैंने, उसमें यह आम करीने से काट कर रखना, भूलना नहीं, नहीं तो तेरी तनख़ा काट ली जायेगी।

और नौकर 'अच्छा जी साब' कहते हुए उस आम को पुनः अपनी जगह रख देता। तभी मेरी आँखों के सम्मुख पचीस बरस पहले का एक दृश्य याद आ जाता। अपना गाँव, उसमें आम का बाग़। एक पेड़ का डाल पर दो लड़के, दोनों एक ही उमर के हैं। दोनों चुन चुन कर टिकोरे तोड़ रहे हैं। उनमें से एक, जो अपने कपड़ों से किसी बड़े आदमी का लड़का मालूम देता है, दूसरे लड़के

से कह रहा है--दीना, हम जब बड़े होंगे न, तो मन भर के टिकौरे खायेंगे, सबके सामने खायेंगे; और दीना, तब मैं तुझे अपने पेड़ से खूब पेट भरके टिकौरे खिलाऊँगा। कोई कहेगा, क्यों खिलाते हो, तो मैं कहूँगा वाह, क्यों न खिलाऊँ, यह मेरा बचपन का साथी है। और दीना, तब हम तुम साथ साथ पेड़ पर चढ़ेंगे, और खूब जी भर के टिकौरे तोड़ेंगे। तुम अच्छे अच्छे तोड़ कर मुझे देना, मैं तुझे दूँगा, और घर आकर खूब बढ़िया नमक मिर्च बनायेंगे, और उसके साथ खायेंगे! बड़ा मजा आयेगा दीना, है न?

नहीं नहीं, मेरा राजू ऐसा नहीं हो सकता, ऐसा नहीं हो सकता। उसकी गलत तस्वीर पेश की गयी है। वह मेरा दोस्त है, मेरा दोस्त। बचपन से हम लोग साथ रहे हैं, साथ खेले हैं। मैं उससे मिलने जाऊँगा, उसे बधाई दूँगा, उसके साथ रहूँगा। वह मेरा साथी है, वह मेरा बचपन का साथी है, वह मेरा तीस बरस पुराना साथी है.....

और मैं राजू के यहाँ गया। न जाता तो करता भी क्या। पेट की आग और तन की फटी लँगोट ने मुझे उसके यहाँ जाने को बाध्य कर दिया। मैं गया। बड़ा शहर। बड़ी सड़क। निलोन बत्तियाँ। शानदार बँगले। और एक बँगले के फाटक पर जब मैंने राजू का नाम लिखा देखा, तो खुशी से फूला न समाया। इस बँगले में राजू रहता है। मेरा राजू। मैं अन्दर पहुँचूँगा तो दौड़

कर गले से लगा लेगा। लोग देख कर दंग रह जायेंगे। आपस में काना फूँसी करेंगे। चपरासियों से पता लगायेंगे। तभी राजू बोल उठेगा—यह मेरा बचपन का दोस्त दीना है। और फिर वह अपने सेक्रेटरी से कहेगा—आज का काम बन्द। मिलने वालों से कह दो कि वे और किसी दिन आयें। आज मुझे छुट्टी नहीं है। आज मेरा दीना आया है। आज का दिन मैं इसी के साथ बिताऊँगा!

सिनेमा कभी देखा है तुमने? या रेडियो से प्रसारित होने वाले ड्रामे सुने हैं? उसमें किसी अकल्पित घटना के समय बैक-ग्राउण्ड आर्केस्ट्रा एक जोर की ध्वनि देता है, झन्न-झ-न्न, और जिस तेजी के साथ वह ध्वनि आती है, उतने ही धीमेपन के साथ उसकी विलुप्ति होती है। उस झन्न की ध्वनि में एक अजीब सी भावना का संकेत रहता है, अजीब, एकाकी, गम्भीर, दुख से भरी। शब्दों से मनुष्य अपनी उस भावना को व्यक्त नहीं कर सकता। वह भावना हृदय की वस्तु होती, और जब वह भावना हृदतंत्री के तार से छू जाती है, तो एक अजीब सी चोट लगती है, अजीब सी तिलमिलाहट होती है!

और यही हाल मेरा हुआ। जैसे सिर पर किसी ने लोहे का हथौड़ा जोर से दे मारा हो। एक कड़ाके की चोट।

—कहिये, कैसे आना हुआ?

—जी...., मैं, दीना हूँ। आपको याद होगा—

—ओह, दीना! अरे तुम तो पहिचाने ही नहीं जाते। बड़े तगड़े हो गये हो भाई।

मैंने अपने बदन पर निकली हुई हड्डियों को देखा, पर सन्तोष

था कि मेरी स्मृति अभी राजू के दिमाग में तरोताजी है !

—और कहो, क्या हाल चाल है ? कोई खास काम है ?—राजू ने मेज पर रक्खी फाइलों को उलटते पुलटते हुए कहा।

—नहीं, यों ही....

—अच्छा भाई, कभी कभी मिल लिया करो—और उसने हाथ जोड़ दिये।

—पर सुनो....

—हाँ !

मेरे पेट की आग मुझे आगे ढकेल रही थी।

—भूखों मरता हूँ, आजकल।

और उसने जेब से पाँच रुपये निकाल कर मेरे आगे फेंक दिये।

—रुपये नहीं चाहियें मुझे। मैं दान नहीं लेता। मैं भिखारी नहीं हूँ। मुझे नौकरी चाहिये। मैं नौकरी करूँगा। तुम मुझे नौकरी दिलाओ। तुम मुझे नौकर रक्खो। तुम बड़े ओहदे पर हो। तुम्हारे एक इशारे पर मेरे पेट में रोटियाँ पहुँच जायेंगी—न जाने कैसे मैं यह सब कह गया।

—पर तुम पढ़े लिखे तो हो नहीं, तुम्हें रक्खा ही कहाँ जा सकता है ?

—मैं जेल गया हूँ। मैंने देश के लिए अपना घर बार खोया है। पुलिस के कोड़े खाये हैं, यह देखो—और मैं कमीज उतारने लगा।

—रहने दो, उसकी जरूरत नहीं। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ, पर नियम के विरुद्ध तो कोई काम नहीं कर सकता। हाँ—

वह क्षण भर को रुका—एक बात हो सकती है। तुम मोटर ड्राइविंग जानते हो ?

—हाँ, काँग्रेस एलेक्शन के जमाने में सैकड़ों आदमियों को मैंने मोटर में लाद कर चुनाव घर पहुँचाया है।

—तो ठीक है, मुझे एक मोटर ड्राइवर की जरूरत है। तुम जाने पहिचाने आदमी हो, अच्छा रहेगा। तनख्वाह पच्चीस रुपये मिलेगी। वह पीछे के हिस्से में नौकरों के क्वार्टर्स हैं, अपना सामान वामान ले आओ, और आज ही से काम शुरू कर दो।

धक्का नम्बर दो ! पहिले धक्के से प्रौढ़, पर कम तकलीफ देह ! पहिले में एक आशा थी, विश्वास था, उल्लास की झलक थी। तब धक्का हृदय की कोमलता में प्रवेश कर गया था, पर अब तो हृदय ही मर चुका था। धक्का अपना असर कहाँ करता ! और मैं उसी दिन वहाँ चला आया।

बँगले के पीछे के हिस्से की एक अन्धी कोठरी मुझे मिली। अन्धी कोठरी, काले धुएँ से सराबोर, जिसकी सीली जमीन से किसी जंगली दलदल का आभास होता था। कोठरी, और उसके आगे बरामदा। टूटी सी चारपायी। ईंटों का चूल्हा, कूड़ा करकट से भरी जमीन, बदबूदार, गलीज़ सीलन, दीवार से लग कर खड़े हो तो एकदम से शनिश्चर देवता के अवतार बन जाओ ! और आज़ाद हिन्दुस्तान की यह पहली तस्वीर मेरी आँखों के सामने

थी ! कल्पना और यथार्थ का भेद मुझे अब मालूम हुआ। कितनी सुन्दर होती है कल्पना, पर जब वही यथार्थ जीवन में प्रवेश कर जाती है तो कितनी घृणित, घिनौनी हो जाती है वह। 'वाह ! तू तो ऐसी बातें कर रहा है जैसे तू ही कहीं का लाट हो जायेगा। मैं भी तो पढ़ता हूँ तेरे साथ। मैं भी पढ़ लिख कर बड़ा आदमी बनूँगा—तुझसे भी बड़ा। मैं कलक्टर बनूँगा, मेरे पास भी लाल चोगों वाले चपरासी रहेंगे, मेरे पास भी नीली मोटर रहेगी, मेरे पास भी लाल चोगे...मेरे पास भी नीली मोटर.....

और कल्पना की तस्वीर यहाँ आकर ठप हो जाती है। नीली मोटर—हाँ नीली मोटर...है तो मेरे पास नीली मोटर। कौन कहता है कि मैं नीली मोटर का स्वामी नहीं हूँ ? कौन कहता है कि मैं नीली मोटर पर नहीं बैठता ? कौन कहता है....कौन कहता.... मैं छः गज लम्बी नीली मोटर का स्वामी हूँ...लोगों को बता दो, ऐलान कर दो...मेरी मोटर छः गज लम्बी है...छः गज लम्बी...जब आज के दिन लोगों को छः गज कपड़ा भी मयस्सर नहीं—मैं छः गजी मोटर पर बैठता हूँ....छः गज....छः गज....छः गज...

मैं ड्राइवर था, नीली मोटर का। मैं ड्राइवर था, अपने राजू का। मैं रोज उसे मीलों की सैर कराता था। राजू सेक्रेटरियट जाता, तो मैं सलाम करके मोटर का दरवाजा खोलता। राजू भाषण देने जाता, तो सभास्थल पर राजू को उतार कर वहीं उसकी

प्रतीक्षा करता। वहाँ राजू की जय के नारे लगते। वहाँ राजू को अभिनन्दन पत्र भेंट किये जाते। वहाँ राजू का गला फूल-मालाओं से भर दिया जाता। राजू भाषण देता। अब हमें आज़ादी मिल गयी है। अब हम आज़ाद हैं। ऊँच नीच का विचार हमें अब त्यागना चाहिये। सब एक हैं। सब भाई हैं। सब समान हैं। कोई गरीब नहीं। कोई अमीर नहीं। सरकार सबको बराबर की सुविधाएँ दे रही है। यह जनता की सरकार है। यह गरीबों की सरकार है। यह किसानों मजदूरों मेहनत-कशों की सरकार है.....

और लोगों की तालियों से सभास्थल गूँज उठता। लोग झूम पड़ते। अंग्रेज़ चले गए हैं। कांग्रेस का राज है। अपनी सरकार है। गाँधी जी का राज है। जवाहरलाल का राज है। गाँधी जी की जय। जवाहर लाल की जय। राजेन्द्रनाथ की जय!

और इसी तरह एक दिन जब मैं राजू को शहर के ही एक भाग में वृक्षारोपण कराने ले जाने वाला था, मुझे खबर मिली कि कोठरी की छत गिर जाने की वजह से मेरा बच्चा जख्मी हो गया है। मेरा बच्चा। पाँच बरस का बच्चा। सुन्दर, खूबसूरत बच्चा। मुझे विश्वास नहीं आता था, मेरे कानों में क्या सम्वाद डाला गया था। पर सत्य को झूठ कर सकने की शक्ति तो हम में नहीं, शायद भगवान में भी नहीं। बच्चा छत से कुचला

पड़ा था—फूटे सर से निकला हुआ खून सारी धरती को तर किये हुए था। एक बड़ा लम्बा सा नाला—गाजीउद्दीन हैदर की नहर की तरह—उसकी सैकड़ों शाखें, इधर, उधर, चारों ओर। और तभी मेरे सामने एक दूसरी तस्वीर आयी। पेड़, पीपल का, बरगद का। उसकी सैकड़ों टहनियाँ। टहनियों में पत्तियाँ—एक मोटे तने से फूटती हुई। और मुझे लगा, जैसे मेरे बच्चे का यह खून दुनिया भर की जमीन को सुर्ख कर देगा, उसे सींचेगा और उसमें से नयी पौद उगायेगा, कोमल, मुलायम—एक नयी पौद जो दुनिया को नयी रोशनी से जगमग कर देगी। और या फिर यह खून मुझे आग की उस लाल रोशनी का प्रतीक लगा, जो सुलगते ही ऊँचे ऊँचे महलों और हरे भरे खेतों को जला कर खाक कर देती है, फिर वह बुझायी नहीं जा सकती!

तभी चपरासी की आहट हुई। साहब ने बुलाया है।

—क्यों?

—उन्हें छः बजे अमीनुद्दौला पार्क पहुँचाना है। पेड़ लगायेंगे।

—पर मैं तो नहीं जा सकता। मेरा बच्चा—

—चलो, यह सब साहब से कहो चलकर।

—मैं नहीं चल सकता—मैं दृढ़तापूर्वक कहने जा रहा था कि उसी समय वहाँ राजू आ गया।

—बड़ा दुःख हुआ तुम्हारे बच्चे की मौत की खबर सुनकर।

—जी...

—जरा सुनो भाई, मुझे जल्दी से अमीनुद्दौला पार्क पहुँचा आओ। वहाँ मेरा छः बजे पहुँचना जरूरी है।

—जी....

—हाँ हाँ, चलो न। अब तो यह मर ही गया है, तुम्हारे रहने से तो जिन्दा नहीं हो जायेगा। पहुँचा के फौरन ही वापस लौट आना।

—जी....

—चलो जी, जी....जी क्या ? इतना मिजाज था तो नौकरी करने की क्या जरूरत थी ? उठो—

और मुझे उठना पड़ा। पाँच मिनट की तो बात है, गये और आये। कोई बात नहीं। राजू को पेड़ लगाने की देर हो रही है। उसके न पहुँचने पर कितने लोगों को निराश होना पड़ेगा। उसका वहाँ समय पर पहुँचना आवश्यक है। वह वहाँ न पहुँच सका तो राष्ट्र का कितना नुकसान होगा। वृक्ष राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख अंग हैं। वृक्ष मरुभूमि को हरा कर उपजाऊ बनाते हैं। वृक्ष हमारे अन्नदाता हैं। राजू को वृक्ष लगाना है। वह वृक्ष बढ़ेगा। उसमें शाखें निकलेंगी। उसके नीचे हजारों आदमी आराम करेंगे। उस वृक्ष से फूल झड़ेंगे, उसमें फल लगेंगे। उन्हें लोग खायेंगे। हजारों लोग—लाखों लोग—उनके बच्चे—पुश्त दर पुश्त ! नहीं—मुझे जाना ही चाहिए। अखबारों में प्रोग्राम छप चुका है। हजारों नोटिसें बाँटी जा चुकी हैं। मेरा जाना जरूरी है। राजू का पहुँचना जरूरी है।

ओह—जैसे मुझे कुछ याद हो आया।

—बाबूजी, कुछ रुपयों की जरूरत है....

हमें गरीब और अमीर का भेद मिटाना है--राजू अपने बगल में बैठे नगर कांग्रेस के अध्यक्ष से बातें कर रहा था।

--बच्चे की क्रिया कर्म के लिये पैसे नहीं हैं.....

हमें एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना है, जहाँ अमीर गरीब को सता न सकें--राजू अपनी बातों में मग्न था।

--बाबूजी....

अमीर बहुत दिनों तक गरीबों का खून चूस चुके। अब उन्हें उससे मुक्ति दिलानी होगी--राजू की तीसरी उक्ति थी।

सभापति जी सिर हिला रहे थे--कितने ऊँचे विचार हैं आपके!

--बाबू जी....

--क्या है जी?

--बाबू जी, बच्चे के कफन के लिये पैसे नहीं हैं।

—तो मैं क्या करूँ?

--कुछ पैसे दे दीजिए--

--मेरे पास फालतू पैसे नहीं हैं। और फिर आजकल, जब कपड़े की इतनी कमी है, नये कफन का क्या काम? किसी फटे पुराने कपड़े में बाँध कर फेंक देना।

--लेकिन, बाबू जी....

पर इतने में वह जगह आ गयी, जहाँ राजू को उतरना था। पुष्प मालाओं की वर्षा।

--देखो, एक डेढ़ घण्टे में बच्चे को जला वला कर वापस चले आना।

'काँग्रेस राज जिन्दाबाद'--सभापति जी जनता को दुहराने के लिए नारा लगा रहे थे।

—पर, इतनी जल्दी, कैसे आ सकता हूँ, बाबू जी ?

--जवान मत लड़ाओ, और ठीक आठ बजे यहाँ हाजिर हो जाओ--

'जवाहरलाल जिन्दाबाद'--दूसरा नारा था !

—एक घन्टे के अन्दर बच्चे को फूँककर वापस आ जाओ --और यह लो चवन्नी, शायद कुछ पैसों की जरूरत पड़े।

'राजेन्द्रनाथ जिन्दाबाद'--सभापति जी पूरे जोर के साथ कह रहे थे, और इसी ध्वनि के मध्य राजू पण्डाल के अन्दर घुस गया !

मुझसे वहाँ नहीं रुका गया। वहाँ के वातावरण में जैसे मेरा दम घुटा जा रहा था। एक काला, डरावना सा सपना, खौफ़नाक, खूँख्वार। मैं मोटर लेकर भाग चला। अपने जीवन में शायद उसी दिन मैंने सबसे तेज़ मोटर चलायी थी। कई बार एक्सीडेन्ट होते होते बचे। उस वक़्त मैं अन्धा था, मेरी आखों की जोत जैसे किसी ने छीन ली थी, मुझे दिखायी नहीं पड़ता था। पर रास्ते में जब कब्रिस्तान पर निगाह गयी तो न जाने कैसे आँखों में रोशनी आ गयी, मुझे दिखायी पड़ने लगा। पैर अपने आप ब्रेक पर रुक गये, हाथों की स्टियरिंग किसी अन्तर की आवाज़

से एकदम थम गयी, और मैंने अपने आपको पाया कब्रिस्तान के उस सुनसान कोने में, जहाँ अभी दस मिनट पहिले एक लाश दफ़नायी गयी थी। जमीन गीली थी, भुरभुरी मिट्टी, छूते ही धँसने वाली। शायद कल यहाँ चबूतरा बने। शायद कल यहाँ कोई मासूम हाथ फूल चढ़ाने आये। शायद यहाँ घी के चिराग रौशन किये जायें। पर·····पर यह क्या, यह कपड़े का सिरा? लाश बहुत नीचे नहीं है। कपड़ा मिल सकता है। मेरा बच्चा। मेरा फूल सा बच्चा। वह भी तो मरा पड़ा होगा। उसका भी काम करना है। कपड़ा नहीं है, नया कपड़ा नहीं है। पैसे नहीं है। राजू ने पैसे नहीं दिये। तो क्या बच्चे की अन्त्येष्टि यों ही होगी? नहीं नहीं·····मेरे जीते जी यह नहीं हो सकता·····मैं कपड़ा लाऊँगा·····चाहे जैसे भी हो·····चाहे कुछ भी करना पड़े····· कपड़ा·····बच्चा·····पैसा·····राजू·····कफ़न·····और जैसे मेरे हाथ किसी अन्तर्प्रेरणा से उस ताजी कब्र के ऊपर पहुँच गये·····और·····

चारों ओर बहुत से आदमी खड़े थे। लाल लाल आँखें, अंगारे जैसी। चोर-कफ़न चोर-गिरफ्तार करो-पकड़ो-साले कफ़न चुराने में भी नहीं हिचकते-बदमाश-आवारा-गुण्डा-चोर·····

और आज मैं इस जेल में बन्द हूँ। कफन-चोरी करने के इलजाम में मुझे तीन साल की सख्त कैद की सजा मिली है। मैं

कफ़न खसोट हूँ-कफ़न खसोट ! तुम मुझे देखकर हँसते हो-हाँ, मुझे देखकर तुम लोगों के होठों पर उसी तरह की हँसी आ जाती है जिस तरह इन सफेद पोश कफ़न खसोटों को देखकर मुझे आती है ! तुम मुझे पागल समझते हो, मेरी बढ़ी हुई डाढ़ी और पीब से सराबोर बदन को देखकर मुझसे घृणा करते हो, गढ़े में धँसी हुई मेरी आँखों और अंगुल अंगुल चीथड़ों से बने हुए मेरे कपड़ों को देखकर नफरत से मुँह फेर लेते हो। मुझे अपने समाज दूर समझते हो-अपने उस समाज से, जो मुझसे भी बड़े कफ़न खसोटों से भरा हुआ है। मुझे अपने नजदीक देखना तुम्हें मान्य नहीं। तुम्हारी नजरों में हिकारत भरी है, तुम्हारे दिल में भाव है घृणा का, नफरत का। लेकिन..... लेकिन मैं तुम्हें कैसे बताऊँ, मैं हमेशा से ऐसा नहीं था। मुझे देखकर तब तुम्हें मतली नहीं आती थी, तुम्हें घृणा नहीं होती थी मुझसे, तब तुम मुझे भी अपने ही समाज का एक अंग समझते थे। मैं भी तुम्हारा साथी था, तुम्हारा सहयोगी था, तब अपने साथ मुझे पाकर तुम्हें लज्जा से सिर नहीं झुकाना पड़ता था ! तुम मुझे अपने जैसा ही समझते थे, मेरे लिये तब तुम्हारा हृदय खुला था, तुम्हारा दिल सराबोर था-प्यार से, स्नेह से, स्नेह सिंचित आदर से। काश, मैं भी आज तुम्हारे जैसा होता, मेरे पास भी उन चीजों की, उन योग्यताओं की कमी नहीं होती, जो तुम्हारे पास हैं। काश, मेरे पास भी रुपया होता, धन दौलत होती, इज्जत होती, हाँ में हाँ मिलाने के लिये मेरे पास भी उतने ही दरबारी होते, जितने कि आज तुम्हारे पास हैं। तब मैं भी तुम्हारे जैसा होता, तब मैं भी अपने जैसे व्यक्तियों को देखकर नफ़रत से मुँह फेर

लेता। पर·····पर मैं नहीं चाहता तुम्हारे जैसा होना, हाँ हाँ, मैंने कह तो दिया–मैं नहीं चाहता तुम्हारे जैसा होना। मैं नहीं चाहता·····। मुझे सफेद पोश कफन खसोटी पसन्द नहीं। मैं आत्मा का पुजारी हूँ, हृदय में मेरी श्रद्धा है--कोरे मस्तिष्क में नहीं, मुझे भावुक होना पसन्द है, मैं व्यापारी नहीं हूँ। अभी कल ही की तो बात है, तीस साल होते ही कितने हैं ? --अभी कल ही की तो बात·····

*

# केले के खम्भे

आज श्री कृष्ण जन्माष्टमी का त्योहार है। रात के दस बजे हैं। झराझर पानी बरस रहा है। वर्षा की कुछ बूँदें रोशनदान से होकर मेरे बिस्तर पर भी पड़ जाती हैं। पड़ोस में कीर्तन हो रहा है। दो घन्टे बाद जब झाँकी के पट खुलेंगे तो प्रसाद मिलेगा। मुझे न्योता मिल चुका है।

सामने के मकान में हरी बत्ती जल रही है। हरा रंग मुझे बहुत अच्छा लगता है। उस मकान में यहाँ के हाई स्कूल के मास्टर चौधरी रहते हैं, बड़े ही हँसमुख, बड़े ही मिलनसार। संगीत से प्रेम है। गरूर छू तक नहीं गया। फटी धोती पहने घूमा करते हैं। उनके बगल वाले मकान में सेठ द्वारका दास

टनटनियाँ रहते हैं। लाखों का व्यापार होता है। उनके बारे में न पूछिए। मुश्किल से उनके दर्शन हो पाते हैं। मिलते हैं तो ऐसे जैसे बड़े लाट तालुकदारों जमींदारों से मिलते हों। सिर से पैर तक तक घमण्ड और अभिमान की मूर्ति। उनके दरवाजे पर हमेशा एक नेपाली बन्दूक ताने खड़ा रहता है। तिजोरिओं में नोटों की गड्डियाँ भरी पड़ी हैं। उनकी कुंजी सेठ जी हमेशा अपनी जनेऊ में बाँधे रहते हैं। उन्हें किसी पर विश्वास नहीं। विश्वास करना पाप है।

मेरी आँखों के सम्मुख दोनों की मूर्तियाँ स्थिर हो गयीं। दोनों के बारे में सोचता हूँ। कितना फरक है दोनों में। एक इन्सान, तो दूसरा इन्सान सा लगने वाला हैवान। एक निर्धन होते हुए भी बेफिक्र, दूसरा धन की ढेरियाँ लगी रहने पर भी फिक्रमन्द। एक फटी धोती पहने हुए भी प्रसन्न, तो दूसरा तिजोरिओं की ताली अपने पास रक्खे हुए भी सशंकित, भयभीत। एक को इस लोक की ही परवाह नहीं, दूसरा धर्मशालाओं और मन्दिरों में लाखों लगाकर परलोक सुधारने की चिन्ता में मग्न। एक निराशा के वातावरण में रहते हुए भी आशा में साँस लेता है, दूसरा आशा को खरीद कर भी निराशा में गोते लगाता है।

नेत्रों के सम्मुख दूसरा चित्र आया। यह चित्र मेंहदी मियाँ का है। मेंहदी मियाँ हमारे दर्जी है। उम्र सत्तर को पार कर गयी होगी। सिर और डाढी के बाल जोहा चावल की तरह बुर्राक हैं। सालोमन के पीछे वाली गली में इनकी दुकान है। दिन भर मशीनों की खटपट लगी रहती है। एक गाहक आता है

कोट दे जाता है, दूसरा आता है तो पाजामा। दोनों ही कहते हैं, देखो मियाँ, देर न लगाना। कल तक मिल जाये। मेंहदी मियाँ दोनों की बातों का हँस हँस कर जवाब देते हैं। बगल में उनका हुक्का रक्खा रहता है। मौका मिलने पर उसे भी गुड़गुड़ा लेते हैं। मेंहदी मियाँ को अचार बहुत पसन्द है। जब भी हमारे घर आते हैं एक कुलहड़ में आम का अचार ले जाते हैं। कभी कभी मुरब्बा भी मिल जाता है। कहते हैं, मुझे आप के यहाँ की खाने की चीजें बहुत अच्छी लगती है.....

पानी की बौछार कुछ बढ़ गयी है। मेरी मेज भीग गयी। खिड़की के दरवाजे बन्द कर दिये। ऊपर से पानी अब भी आ रहा है। उसका कोई इलाज नहीं। रोशनदान में शीशे नहीं हैं। मुझे मकान मालिक मिस्टर सेन पर बड़ा गुस्सा आता है। पहिली तारीख को पूरे सौ रुपए गिनवा लेते हैं और मरम्मत के नाम पर कौड़ी नहीं। पूरे कंजूस हैं।

मैंने कमरे की बत्ती गुल कर दी। लेटे-लेटे पता नहीं कब कब की स्मृतियाँ आखों के सामने आने लगीं। एक, एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी। प्याज के छिलकों का अन्त नहीं आता। छीलते जाइए, वह तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक स्वयं प्याज का ही अस्तित्व खतम न हो जाए। मेरे दिमाग का भी आज यही हाल हो रहा है। कोई भी चित्र स्थिर नहीं। एक जाता है, स्वतः दूसरा आ जाता है।

आँखों के सामने एकाएक छः सात बरस पुराना चित्र आ

गया। १९४० की जन्माष्टमी। व्यक्तिगत सत्याग्रह। विनोबा भावे द्वारा आन्दोलन का सूत्रपात। जवाहरलाल की गिरफ्तारी। चार साल के कठोर कारावास का दण्ड। फिर सत्याग्रहियों की बाढ़। जेलों का भरना। एमरी और चर्चिल की दुरंगी नीति। क्रिप्स का आगमन। आँखों के सामने से यह सब घटनायें शृंखला की कड़ियों की भाँति गुजरती गयीं। घर का चित्र आया। सत्याग्रह की आग मेरे यहाँ तक आयी और एक दिन सुबह सुबह बाबूजी को पुलिस पकड़ ले गयी। चाचाजी तो पहले से ही जेल में थे। बाबूजी को भी दो साल की सरकारी मेहमानी का निमंत्रण मिला। पाँच सौ रुपया जो जुर्माना हुआ सो अलग। मुझे याद पड़ता है, पाँच सौ रुपए के लिये पुलिस को हमारी दस हजार की मोटर भी कम मालूम पड़ी थी, ड्राइंग रूम का सब सामान भी वह साथ लेती गयी। यह सब हुआ, लेकिन मेरे बूढ़े बाबा के माथे पर एक शिकन तक न आयी। जिस समय बाबूजी को लाल पगड़ी वाले हथकड़ी डाल कर ले जा रहे थे, मैं रोया था, दादी रोयी थीं, माँ ने अपने आँसू अन्दर ही पी लिये थे। परन्तु बाबा हँस हँस कर उनका सामान ठीक कर रहे थे और साथ ही साथ हम लोगों को ढाँढस भी बँधाते जाते थे। अच्छी अच्छी किताबों और पत्रिकाओं का एक ढेर सा लगा दिया, यद्यपि वे सब जेल के द्वारा से ही लौट आयीं थीं। बाबूजी को पुस्तकों का व्यसन था। बूढ़े बाबा यह जानते थे। उन्हें अपने विलायत पढ़े लड़के पर गर्व था। वे जानते थे, उनका लाल किसी बुरे काम के लिए नहीं पकड़ा गया है। मुझे बाबा की स्थिर बुद्धि पर हर्ष होता है। दोनों लड़के दो साल तक जेल

में रहे, मगर उन्होंने कभी भी अपने अन्दर के दुःख को प्रकट नहीं होने दिया। आन्तरिक दुःख तो स्वाभाविक है। उसे तो कोई भी नहीं रोक सकता।

स्मृतियों की दूसरी कड़ी सामने आयी। दीपावलि का आगमन। जगज्जननी लक्ष्मी का दिन। दीपों का उज्ज्वल प्रकाश। घोर अन्धकार पूर्ण रात्रि में माँ लक्ष्मी के पावन आलोक से कोना-कोना जगमगा उठता है। भारत का महापर्व है यह। गुलाम होते हुए भी हम अपने त्योहारों को अब तक नहीं भूल पाये हैं। युगों का पहलन भी हमें अपनी प्राचीन स्वतन्त्र संस्कृति नहीं भुला सका है। गंगा के जल में कीड़े नहीं पड़ते। विश्व का कोई भी पानी ऐसा नहीं है जिसमें कीड़े न पड़ें। हमारी संस्कृति भी गंगा जल के समान है। दुनिया की सभ्यता और संस्कृति धूल में मिल गयी, लोगों ने अपने आदि महापुरुषों को, राष्ट्र निर्माताओं को, हर्षोत्सवों को भस्मीभूत कर दिया, पर हमने उन्हें उसी तरह याद रक्खा जिस तरह कोई भी स्वतन्त्र राष्ट्र रख सकता है। दशहरा है, वह भारत का विजय दिवस था। उस दिन हमारे देश ने शत्रुओं पर विजय पायी थी। हमारी वह विजय राजनीतिक विजय नहीं, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विजय थी। हजारों वर्ष व्यतीत हो गये उस बात को, युगों बीत गये उस हर्षोत्सव को हुए, पर हम आज भी उसे उतने ही उल्लास और उत्साह के साथ मनाते हैं जितने उल्लास और उत्साह से वह राम के उन राज्य में मनाया जाता होगा। यह हमारी विशेषता है। विशेषता अपवाद होती है। हमारा देश भी विश्व में अपवाद है।

यही दीवाली थी उस दिन। दोनों भाई जेल में ही थे। आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। हम लोगों ने उत्सव न मनाना निश्चित कर लिया था। यह दादी की सलाह थी। दोनों लाल जेल की सूखी रोटियाँ तोड़ें और हम यहाँ गुलछर्रे उड़ाएँ। यह असम्भव है। नहीं, दीवाली नहीं मनायी जायेगी। सबके यहाँ दीये आये, खिलौने आये, चूरा व खीलें आयीं, हमारे यहाँ कुछ नहीं। वह रात हमारे यहाँ ऐसे ही मनायी जाने वाली थी। अन्धकार रहेगा, दीये नहीं जलाये जायेंगे, पूजा नहीं होगी, चीनी के हाथी घोड़े नहीं खाने को मिलेंगे। हम लड़के यही सब सोचते थे। रीता और अजीत हमारे दल के सबसे छोटे सदस्य थे। अगल बगल के घरों की तैयारियां वे देखते थे। दीयों में तेल भरा जा रहा है। रुई की बत्तियां बनायी जा रही हैं। ढेर के ढेर चूड़े व खीलें आ रही हैं। बाजार में देखते थे, रंग-बिरंगे बल्बों के प्रकाश में बीसियों दुकानें तरह-तरह के खिलौनों से भरी हैं। लोग आते हैं, हँसते खेलते मोलभाव करके, सामान खरीद ले जाते हैं। जगह-जगह दीये जलाने का प्रबन्ध हो रहा है। अपने घर में कुछ नहीं। पारसाल भी हुआ था। इस बार यह सब क्यों ?

स्मृति शकूर मिर्जा पर आकर ठहर गयी। मिर्जा हमारे घर में बहुत दिनों से आते हैं। जब से पैदा हुआ हूँ तब से तो उन्हें देख रहा हूँ। उम्र नब्बे वर्ष की है। कमर झुक गयी है। बाल सन हो गए हैं। लेकिन वे उन आदमियों में हैं जो मरते दम तक जवान रहते हैं। उल्लासी व्यक्ति हैं। गदर के दिनों की

उन्हें अच्छी तरह याद है। तब वे आठ नौ वर्ष के रहे होंगे। हम लोगों से उनकी पूरी बेतकल्लुफी है। ईद बकरीद के दिनों में हम लोगों को अपने घर ले जाते हैं। कपड़े देते हैं, खिलौने देते हैं, मीठी-मीठी सेवइयाँ खिलाते हैं। हम भी उनके घर बहुत शौक से जाते हैं। उनके पोते ईदू और अब्दुल्ला हमारे दोस्त हैं। घण्टों हम लोग खेलते हैं। हिन्दू मुसलमान का विचार तक नहीं आता। मिर्जा हमें गदर के किस्से सुनाते हैं। हम लोग भी बड़े चाव से सुनते हैं। बड़ा मजा आता है।

अंग्रेजों से मिर्जा को सख्त नफरत है। उनका वस चले तो उन्हें नेस्तनाबूद कर दें। कहते हैं—रनजीत भैया, एक भी फिरंगी को जब कभी देखता हूँ तो बुढ़ौती में भी खून खौलने लगता है। गदर के जमाने में क्या नहीं किया इन लोगों ने। हिन्दुस्तानियों को कतार में खड़ा करवा देते थे और तोपदम कर देते थे। इन्हीं आँखों से हजारों भाइयों को पेड़ों की फांसी पर लटकते देखा है। क्या वे खूनी दिन फिर कभी आयेंगे। मेरे बूढ़े दिल में अभी बहुत से अरमान बाकी हैं। उन्हें मिटाना चाहता हूँ।

फिर वही दीवाली के दिन वाली बातें सामने आने लगीं। घर के सभी लोग गुमसुम हैं। दोनों भाइयों की याद लोगों को सता रही है। दादी कहतीं—भैया, हम लोग आज उपास करेंगे। लड़कों को लोहे के तसलों में खाते समय हम दीवाली का उत्सव किस दिल से मनायें। बात ठीक थी। किस माँ को अपने लड़कों के प्रति प्यार न होगा। दादी भी मानवता की इसी दुर्ब-

लता की शिकार थीं। अपने दोनों लड़कों के प्रति उनके हृदय में असीमित स्नेह था।

गोधूली का समय था। सूरज डूब रहा था। पास पड़ोस के घरों में दीये सजा-सजा कर रक्खे जा रहे थे। हम लोग हाथ पर-हाथ रख कर बैठे थे। सुनायी दिया, कोई नीचे के किवाड़ खटखटा रहा है। "रनजीत, ओ रनजीत, अरे रीता, अजीत, कहाँ गये तुम सब। आज यह अँधेरा कैसा ?" आवाज पहचानी थी। यह शकूर मिर्जा थे। सिर पर झाबा रक्खे एक लड़का भी उनके पीछे था। झाबे में खिलौने, मिठाइयाँ, खील आदि थीं। दरवाजा खोला। फिर वही प्यार भरी आवाज—यह अँधेरा क्यों ? अरे, यहाँ तो कोई इन्तजाम ही नहीं। मुन्शी जी कहाँ हैं ?

बाबा आये। दीवाली न मनाने का कारण बताया। मिर्जा की सारी उदासी काफूर हो गयी। हँसी का फौव्वारा छूटा। अरे वाह मुन्शी जी। भैया जेल में हैं तो तुम दीवाली भी न मनाओगे। यह कैसी बात। सोचो तो, भैया किस काम के लिए जेल गये हैं। तुम्हें तो खुश होना चाहिए, तुम्हारे दोनों लड़के मुल्क की खिदमत कर रहे हैं, दुश्मनों के पंजे से मादरे वतन आजाद करने गये हैं। तुम्हें तो दूनी खुशी से त्योहार मनाना चाहिए। और सोचो तो, तुम्हारी उदास रूह पाकर भैया लड़ाई कैसे जीतेंगे। इसलिए दीवाली खूब अच्छी तरह मनाओ। तुम लोगों की खुश रूह उन तक पहुँचेगी तो वे भी खुश होंगे।

और इसके बाद वे झाबे से तरह-तरह की चीजें निकालने

लगे। बढ़िया-बढ़िया खिलौने, चीनी के, मिट्टी के, खीलें, चूड़े, गट्टे। फिर बोले : क्यों मुन्शी जी, तेल दीये भी अभी नहीं आये होंगे। मैं जाकर बाजार से लिये आता हूँ। बाबा ने मना कर दिया। नौकरों को बाजार भेजकर मँगवा लिये।

मिर्जा की बातें याद कर मुझे एक प्रकार की प्रसन्नता होने लगी। ओह, कितना महान पुरुष था वह। हम लोग तो उसके पैरों की धूल बराबर भी नहीं। मिर्जा की भावनाओं का मैं कायल था।

और फिर उस बार तो जो दीवाली मनायी गयी, वह मेरे घर की एक चिरस्मरणीय चीज है। मिर्जा ने हमारी आँखें खोल दी थीं। उत्सव के महत्व को हमने पहचाना था। मनाने वाले के लिए ही उत्सव हर्ष की चीज नहीं है। दूर बैठे हुए बन्धु-बान्धवों को भी उससे प्रसन्न होने की प्रेरणा मिलती है।

स्मृति मेल की गति से दौड़ती है तो एकदम दो वर्ष आगे जाकर रुक जाती है। सन् ४२ की जन्माष्टमी। अगस्त आन्दोलन का सूत्रपात। भारत छोड़ो का नाद। नेताओं की गिरफ्तारी। भयंकर उथल-पुथल। स्वतंत्रता की विद्युत सी चमक। फिर अन्धकार। दमन का नग्न ताण्डव। लोमहर्षक अत्याचार। नृशंसता का बोलबाला। अमानुषिक यंत्रणाएँ। सन् ४२ के खूनी दिनों की याद अभी तक मेरे दिमाग में ताजी बनी है। सत्तावन के बाद प्रथम जन आन्दोलन था वह। पानी की तरह खून बहा। जनता में एक नया जोश था, नया उल्लास था, नयी

उमंग थी। कितने अत्याचार हुए हम पर, हमको कुचलने की कितनी जबर्दस्त कोशिशें की गयीं, हमारी भावनाओं पर कितने भीषण प्रहार हुए, सोचने लगता हूँ तो आँखों में खून उतर आता है—और किसका हृदय है ऐसा जो इन प्रहारों को चुपचाप सहन कर सके। हम उस युद्ध की ज्वाला से और अधिक प्रकाशवान होकर निकले। भारत के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास जगा, अपने पर गर्व हुआ, स्वतंत्र और सर्व सम्पन्न राष्ट्र का चित्र आँखों के सन्मुख नाच उठा। सोना खान से निकलता है तो मैला होता है। अग्नि उसे शुद्ध रूप देती है। कसौटी पर यदि वह खरा उतरे तो समझिए वह असली है। बयालीस हमारी कसौटी थी। उसमें हम खरे उतरे। हमारा एक कण भी तो खोटा नहीं निकला। अवसरवादियों की बात तो जाने ही दीजिए। दुधमुँहे बच्चों तक ने तो स्वतंत्रता के हवन कुण्ड में कूद बलि होने में कृपणता नहीं की। क्या यह हमारी प्रगति के चिह्न नहीं हैं? अगस्त की घटनायें हमारी चिर संचित अभिलाषाओं की एक स्वच्छ दर्पण थीं। उन दिनों हमने जो भी किया वह हमारी मूक भावनाओं के तेज उबाल के अतिरिक्त कुछ न था। उस उबाल में कुछ बहे, कुछ रहे, पर अनुभव सभी को हुआ।

स्मृति उसी स्थान पर रुक गयी। आँखों के सामने दो लड़कों का चित्र आया। दोनों की उम्र आठ दस के बीच है। सड़क के नुक्कड वाले रंगी लाल तमोली के लड़के है। एक का नाम लछनम है, दूसरे का तिरलोकी। बड़ा शायद प्राइमरी स्कूल में पढ़ता भी है। छोटा यों ही घूमा करता है। महल्ले के लड़के उन

दोनों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। तमोली के लड़के जो हैं, मैले कुचैले। बोलने की, बात चीत करने की तमीज नहीं। भला यह लड़के भी भले लड़कों के साथी होने लायक हैं! हमारा सभ्य कहलाने वाला समाज इसके लिए तैयार नहीं है। उसे गर्व है अपने बड़प्पन पर, नाज है अपनी जाति पर, अभिमान है अपने रुपये पैसों पर। यह लौंडे, जो उनके जूठे टुकड़ों पर पलते हैं इतनी भी धृष्टता नहीं कर सकते कि उनके सामने गर्दन उठाकर चल सकें।

एक दिन लछमन लौटा तो रात काफी बीत चुकी की। घर में बुआ ने पूछा – क्यों रे इतनी रात गये कहाँ था?

लछमन उस दिन जलूस में गया था। बोला बुआ, गाँधी महात्मा का जलूस निकला था न, उसी में गया था।

तिरलोकी ने कहा दादा, हमको क्यों नहीं ले गये?

लछमन ने समझते हुए जवाब दिया—आज तो बड़ी भीड़ थी। कल इतवार है। फिर जलूस निकलेगा। तब तू भी चलना। फिर कुछ देर रुक कर धीरे से कहा—कहीं से दो झंडे मिल जाते तो बड़ा मजा आता।

दूसरे दिन सुबह उठकर दोनों ने दो झंडे तैयार किये। झंडे क्या थे, खपच्ची में कपड़ों के टुकड़े लपेटे थे। घर में माँ की फटी पुरानी धोतियाँ पड़ी थीं, उन्हें ही फाड़ फूड़ कर बनाया था। फिर जलूस चला तो उसमें शामिल हो गये। आगे आगे चलते

थे और पूरी ताकत से नारे लगाकर चिल्लाते थे। महल्ले के और लड़कों ने भी देखा कि पट्ठे बड़ी शान से जा रहे हैं झंडों को लेकर आगे आगे तो उनके मुँह में भी पानी भर आया। एक ने डरते डरते पिता से उनकी ओर संकेत किया तो पिता ने लड़के के गाल पर एक थप्पड़ लगाते हुए कहा, बदमाश, उन आवारों को इसके सिवा कोई काम भी है? शरीफ लड़के यह सब थोड़े ही करते हैं? जा, अन्दर बैठ।

कोतवाली के घण्टाघर पर झंडा फहराने का प्रोग्राम था। जब जलूस कोतवाली पहुँचा तो देखा, वहाँ पहले से ही पुलिस का जमघट है। और फिर घण्टाघर, अरे, बाबा, इतना ऊँचा। वहाँ झंडा कैसे लगाया जायगा। सिपाहियों ने सीढ़ी पहले से ही अलग कर दी थी और घण्टाघर पर झण्डा लगाना अब सचमुच में एक समस्या बन चुकी थी। और फिर झंडा लगाने वाले के ऊपर आग बरसाने के लिए गोली बन्दूकों से लैस सैकड़ों सिपाही। ना ना, यहाँ से भागो, बड़े बूढ़ों ने लड़कों को सलाह दी।

जलूस की लीडर थी स्थानीय विश्वविद्यालय की एक छात्रा, तारा। उसने कहा—नहीं, अब बिना झंडा लगाये हम लोग नहीं जा सकते, चाहे हम में से सभी को कुर्बान हो जाना पड़े।

तय हो गया, झंडा लगेगा। लेकिन लगे कैसे। आखिर वहाँ तक जाने के लिए भी तो कोई आधार चाहिए। कोतवाली के बरामदे में खड़े शहर कोतवाल खानबहादुर सैयद फैयाज हुसैन सिगार का धुवाँ उड़ा रहे थे, मन ही मन हँस भी रहे थे, जरा इन

लौंडों के खेल भी देखें। सिपाहियों को उन्होंने हुक्म दे दिया, झण्डा लगाने दो, बिलकुल न बोलो। लेकिन हाँ, सीढ़ी-वीढ़ी न देना।

तिरलोकी दौड़कर तारा के पास पहुँचा। 'बहन जी, मैं ऊपर चढ़ जाऊँगा। मुझे झण्डा लगाने दीजिए।'

तारा मान गयी। 'लेकिन देख, गिरना-विरना नहीं'--तारा ने कहा।

तिरलोकी ने आगे बढ़कर कहा--अरे नहीं बहन जी, इससे मुश्किल-मुश्किल जगहों पर चढ़ गया हूँ। यह क्या है। आप बिलकुल निसाखातिर रहें।

तिरलोकी चढ़ा। आधा टावर तो पार कर गया। वाह, शाबाश, हाँ हाँ बढ़ते जाओ, पट्ठे मार दिया, खूब। कोतवाल साहब दूर से देख रहे थे, वाह यह तो खूब निकला। अगर इसके ऊपर गोली इस वक्त चला दूँ तो बड़ा मजा आये। नीचे गिरे आ के पट्ट से। लोग भी जान जायें कि खान बहादुर फैयाज हुसैन किस चिड़िया का नाम है। और फिर जब उन्होंने चुपके से पिस्तौल का निशाना साधा तो तिरलोकी ऊपर पहुँचकर झण्डा लगा चुका था। गोली लगते ही वह नीचे था।

'वाह वाह, क्या खूब मारा,' खान बहादुर साहब से पास ही बैठे दारोगा बद्रीप्रसाद कह रहे थे, 'अरे हुजूर जो निशाना लगायें वह भी कभी चूक सकता है। यह नामुमकिन है। अब तो लड़के

की सात पीढ़ियाँ भी यहाँ आने की मजाल नहीं करेंगी।.....
क्या खूब, वह देखिए, मछली की तरह तड़फड़ा रहा है।'

और फिर क्या हुआ, यह शांति पूर्वक बताना मेरे ऐसे साधारण मनुष्य का काम नहीं। मैं तो उस समय घटनास्थल पर ही था। आज भी वह दृश्य मैं नहीं भुला पाया हूँ। एक तरह से यह अच्छा भी है। मुझे जन्म भर अपने भाई बन्धुओं के यह अत्याचार याद रहेंगे। पर.....पर जब वे चित्र मेरे सामने आते हैं तो मैं स्थिर नहीं रह पाता हूँ। यह मेरी कमजोरी हो सकती है, पर मनुष्य में तो कमजोरी भी एक गुण है। मैं विश्वास नहीं कर सकता, विश्वास करना असम्भव है, आपका बच्चा आग में जलाया जा रहा हो, आँखों के सामने ही चोर आपका चिर-संचित धन उठाये लिये जा रहे हों, आपका प्रिय साथी आपके सामने ही नदी में डूब कर आत्म हत्या कर रहा हो, अत्याचारी आपकी निगाहों के सामने ही आपकी प्रेयसी का मान हरण कर रहे हों, और आप शान्त रह सकें, अगरचे आप मनुष्य हैं, आपका विकास मनुष्य के विकास से ऊँचा नहीं है। महात्माओं की बात मैं नहीं करता, उनके लिए तो कुछ भी असम्भव नहीं है। पर मैं तो मनुष्य ही हूँ, और यदि रोने गाने, अच्छे बुरे का प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ता तो उसे मैं अपनी कमजोरी ही समझूँगा।

सिनेमा की रील आती है.....क्रान्ति की लहर.....जलूस.... कोतवाली.....झण्डा.....तिरलोकी.....कप्तान फैयाज हुसैन.... पिस्तौल की लपलपाती जिह्वा.....और मैं अपने सामने देख रहा हूँ नौ वर्ष के लड़के का शव.....जो अभी हँसता बोलता था....

बातें करता था·····खपच्चियों में झंडा·····जिसका गला चिल्लाते चिल्लाते पड़ गया था·····टावर पर चढ़ा·····झंडोत्तालन····· गोली लगी····· एक आह करते हुए जमीन पर। गोली भेजे के बिलकुल बीचोबीच से निकली थी। कुछ छोटे छोटे सीसे के टुकड़ों ने क्षण भर में उसके मानव के सत्य को निकालकर दूर फेंक दिया था--बहुत दूर--जहाँ से पुनः लौटने की आशा ही व्यर्थ है।

साधारण शब्दों में तिरलोकी मर गया था, पर इतिहास के शब्दों में वह शहीद हो गया था।

और फिर जब उसकी अरथी निकली तब तो देवताओं ने भी दातों तले उँगली दबा ली होगी। पूरे पचास हजार आदमी थे। सबकी आँखों में आँसू थे, हाथों में गजरे थे, और हृदय में थी बलिदान की उत्कट भावना। वे अपने बगीचे के उस छोटे से पुष्प को अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित करने जा रहे थे जो फूलने के पहले ही मसल डाला गया था।

·····पानी की एक बड़ी सी बूँद मेरे गालों पर पड़ी। मैं चौंक पड़ा। पड़ोस का भानू मेरा सिर हिलाकर कह रहा था— चलिएगा नहीं, आरती हो रही है। भगवान पैदा हो गये।·····

# रोशनी

अपनी चिरगर्वित मुद्रा में मुस्कराता हुआ कुतुब मीनार मानों दिल्ली निवासियों को उनके गौरवमय अतीत की कहानी सुना रहा है। सुबह के चार बजे हैं। गजब की सर्दी है। बाहर पाला पड़ रहा है। आदमी के हाथ पैर ठंड के कारण सिकुड़े जा रहे हैं। दूर बने हनुमान जी के मन्दिर में लगा जीरो पावर का बल्ब धीमा धीमा प्रकाश अपने चारों ओर फेंक रहा है। सड़कें वीरान हैं। एक आदमी भी नहीं दिखलायी देता, अलबत्ता थोड़ी देर में अखबारों के कुछ हॉकर सिर के चारों ओर गलूबन्द लपेटे इसी सड़क से निकलेंगे। पास ही दैनिक उपानाद का दफ्तर है। सामने के कमरे में लगा टेलिप्रिन्टर अपनी अहर्निश स्वर लहरी गुञ्जरित कर

पास पड़ोस के कमरों की शान्ति को भी भंग करने की चेष्टा कर रहा है। सबेरा होने में कुछ ही देर है। उषानाद का प्रधान सम्पादक संजय अपने कमरे के एक कोने में आरामकुर्सी पर दुबका पड़ा है। उसके मुँह से निकलती हुई धुएँ के छल्लों की कड़ियाँ आपस में टकरा कर वायु में विलीन होती जा रही हैं। बगल के कमरे में रक्खी विशालकाय रोटरी मशीन का बादल राग जारी है। छपते छपते कालम की सामग्री दी जा चुकी है। गांधी जी ने अछूतों के मन्दिर प्रवेश का समर्थन किया है। इन्डोनेशिया से दस हजार टन चावल शीघ्र ही भारत आ रहा है। कप्तान प्रेम सहगल और लक्ष्मी स्वामीनाथन का विवाह कल लाहौर में सम्पन्न हो गया.....

संजय ने आज के अग्रलेख में अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष का जोरदार समर्थन किया है। नेहरू परिवार का आदर्श उसने जन समाज के सम्मुख रक्खा है। स्वरूप और रणजीत, कृष्णा और गुणोत्तम, इन्दिरा और फीरोज। अन्तिम में तो धर्म भी एक नहीं। प्रेमचन्द के पुत्र अमृत और सुभद्राकुमारी की पुत्री सुधा का गठबन्धन इस दिशा में एक नया कदम है। कायस्थ और ठाकुर का ब्याह। कट्टरपंथी समाज के मुँह पर एक करारा तमाचा।

अभी तक संजय इसी उधेड़बुन में पड़ा हुआ है। वह सोचता है—काश, अब भी हमारे देशवासियों में अक्ल आयी होती। वह कैसे समझाये, प्राचीन भारत में, उस भारत में जब वह सर्व सम्पन्न था, जब वह गुलाम नहीं आजाद था, जब उसकी भी कोई अपनी संस्कृति थी, विश्व की राजनीति में उसका भी कोई स्थान

था तो यहाँ जाति और अन्तर्जाति का कोई प्रश्न ही नहीं था। वर्ण विभेद हमारे पूर्वजों ने व्यापार व्यवस्था के लिये किया था, न कि आज के तथाकथित पुराने जमाने के लोगों के अनुसार धर्म की रक्षा के लिये। हथौड़े की मार से हमारा मस्तिष्क अपनी जगह पर नहीं रहता, फिर वह चोट चाहे लोहे के हथौड़े की हो चाहे गुलामी के हथौड़े की। हमारा भी यही हाल रहा है.....

सदियों परतंत्रता के कलंकित वातावरण में साँस लेते लेते आज का हिन्दुस्तानी अपनी बुद्धि खो बैठा है। उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है। सोचने की शक्ति उसमें नहीं रही। अज्ञानता और अन्धविश्वास इसी के परिणाम हैं। पर अब हमें यह सब मिटाना होगा। जब तक हम अपने रूढ़िवादी विचारों की जंजीरें तोड़ने में समर्थ न होंगे, हमारी आजादी व्यर्थ होगी। आज का नवयुवक इस दिशा में जी जान से प्रयत्नशील है। वर्षों की नींद के बाद उसने अँगड़ायी ली है। अपने चारों ओर का वातावरण देखकर उसे अचरज हुआ है। अपनी सच्ची स्थिति उसे मालूम हो गयी है। वह फिर अपनी पुरानी जगह पर पहुँचना चाहता है। वह फिर इन्सान बनना चाहता है। कहने भर को इन्सान नहीं, सच्चा इन्सान, बहादुर इन्सान, आग पर चलने वाला इन्सान, जहर के घूँट पीने वाला इन्सान, गुलामी की जहालत पर हथौड़े की चोट देने वाला इन्सान.....

संजय से मेरी पुरानी दोस्ती है। उसके ऐसे हँसमुख व्यक्ति बहुत कम देखने में आते हैं। जब भी उसे आप देखियेगा, उसका चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला हुआ पाइएगा। उल्लास

और प्रसन्नता से तो जैसे उसकी दांत काटी रोटी है। चिन्ता और नैराश्य को अपने पास फटकने तक नहीं देता। पहिली ही बार मिलने पर आप उसकी ओर इस तरह आकर्षित हो जाइएगा जैसे आप दोनों में बहुत पुरानी जान पहिचान हो। उसके यहां आप पूर्ण घरेलू वातावरण पायेंगे--तकल्लुफ से संजय को सख्त नफरत है, यद्यपि उसका परिवार बापदादों के जमाने से लखनऊ में रहता आया है और संजय भी अपने को लखनवी कहने में गर्व का अनुभव करता है।

संजय को कभी भी अपने घरवालों का सहयोग नहीं प्राप्त हुआ। प्रोत्साहन देना तो दूर की बात है, सभी ने हमेशा उसके कार्यों का विरोध किया। परन्तु संजय कभी भी हतोत्साह नहीं हुआ, वह हमेशा अपनी निश्चित राह पर चलता रहा।

उसका परिवार पुराने जमाने के परिवारों जैसा ही था, जहां बीसवीं सदी की परछाईं भी पाप समझी जाती है। सभी परंपरागत रूढ़ियों के दासत्व की बेड़ियों में जकड़े हुए। लक्ष्मी, दुर्गा और सरस्वती की पूजा कर घर की महिलाओं को नौकरों से भी बदतर समझने वाले, क्रान्तिकारी कृष्ण के उपासक होकर भी क्रान्ति शब्द तक से कोसों दूर भागने वाले। दूसरे शब्दों में संजय के घर वाले एक ऐसे परिवार के प्रतीक थे जो अन्धकार को ही प्रकाश मान कर उसकी पूजा करता है, स्यारों के रुदन को पक्षियों का कलरव समझता है, गुलामी की बेड़ियों को भी ईश्वर का वरदान समझकर निरा अकर्मण्य बैठा रहता है। प्रगति से हमेशा दस कदम पीछे रहकर प्राचीनता की दुहाई देने वाला यह परिवार

कलियुग में सतयुग देखता था, सतयुग में कलियुग।

और इसके विपरीत संजय प्रारम्भ से ही प्रगतिशील था। बुद्धि को ताक पर रखकर निरी भावना के स्रोत में बहना उसको मान्य नहीं। वह प्राचीनता का पुजारी अवश्य है, पर उस प्राचीनता का जब हम स्वतंत्र थे, मध्यकालीन युग की जर्जरित प्राचीनता का नहीं। पूर्व की संस्कृति उसकी माता है, परन्तु उसने कभी भी पश्चिम के प्रकाश से मुँह नहीं मोड़ा। इस तरह संजय और उसके घर वालों में वही अन्तर था जो मानव और पशु के बीच है, जीवन और मृत्यु के बीच है, साम्यवाद और सामन्तवाद के बीच है।

आज तो उस बात को पूरे दस वर्ष बीत गये जब संजय को नवीनता की इसी पूजा पर अपने घर को तिलांजलि देनी पड़ी थी। संकुचित मनोवृत्ति के पोषक संजय के घरवाले उसके प्रकाश की चकाचौंध न सह सके। संकीर्णता में प्रगति का स्थान कहाँ? वह प्रगति को रोक भी नहीं सकती। चाहे तब भी नहीं। और संजय का यही प्रगति प्रेम उसके घर में एक ऐटमबम के रूप में आया।

वह दिन संजय को अभी तक अच्छी तरह याद है जब नोनिका से उसकी पहिले पहिल मुलाकात हुई थी। उस बात को पूरे पंद्रह वर्ष बीत चुके हैं। वह उन दिनों प्रयाग के एक कालेज में पढ़ता था। तभी गांधी जी ने देश में एक नयी जागर्ति का शंख फूँका। बच्चे और बूढ़े, स्त्री और पुरुष, युवक और युवतियाँ सभी जैसे उस नंगे फकीर की बन्सी की ध्वनि के पीछे उन्मत्त थे।

नित्य नये नये व्यूह रचे जाते, निःशस्त्र हाथों द्वारा साम्राज्यशाह शक्तियों से लोहा लिया जाता और और अन्त में इन्कलाब जिन्दाबाद के नारे लगाते हुए पुलिस वान ईंटों के कठघरों के अन्दर दाखिल हो जाते। अजीब समय था। किसी को डर नहीं था, अपने प्राणों का मोह नहीं था। जेल की दीवारें हास्यास्पद बन गयी थीं। आजादी के पीछे जैसे लोग दीवाने हो रहे थे। लाठियों की वर्षा होती, कौमी सिपाही उसका सहर्ष स्वागत करते। कृष्ण मन्दिर जाना एक पुण्य का काम हो गया था। कवियों ने अपने गीतों की दिशा बदली, कारागार तीर्थ के रूप में परिणत हो गया, पाप पुण्य की परिभाषा बदल गयी, यहाँ तक कि विजय और पराजय के दृष्टिकोण भी सर्वथा दूसरे हो गये। देश के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व बात थी। गाँधी जी ने जन समाज को अपने ज्योति पुञ्ज की ओर आकर्षित कर लिया था। यह उन्हीं की अद्भुत शक्ति का प्रभाव था। हिन्दू और मुसलमान दोनों साथ साथ आजादी की जंग में बढ़े।

उन्हीं दिनों संजय ने अपनी कल्पना की साकार प्रतिमा नोनिका को पाया। वह क्षण संजय के जीवन का एक स्वर्णिम क्षण है। अब तक वह रसपूर्ण घटना उसके मस्तिष्क के सामने ज्यों की त्यों अंकित है।

असहयोग के दिन थे। सत्याग्रह पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त हो गया था। लम्बे लम्बे जलूस निकलते। रोज सैकड़ों आदमी गिरफ्तार होते। स्वयंसेवकों पर लाठी चार्ज होना तो एक मामूली सी बात हो गयी थी। निर्दोष सत्याग्रहियों के जत्थों पर जिस

समय पुलिस के सिपाही घोड़ों की दौड़ लगाते थे उस समय क्रूर से क्रूर हृदय भी आँसू नहीं रोक पाता था। ऐसा ही एक दिन था। भरद्वाज पार्क में सहस्रों का हजूम था। लड़कपन के दिन उत्साह के दिन कहे जाते हैं। संजय सबसे आगे के जत्थे में था। घरवालों से बिना पूछे ही उसने सत्याग्रहियों में अपना नाम लिखा लिया था। रोज की तरह लाठियों की बौछार हुई, फिर घोड़ों की दौड़, पर तब भी देश के दीवाने अपने स्थान से न हटे। संजय का किशोर शरीर ये प्रहार सहन न कर सका। पहिली ही चोट में जैसे किसी ने उसे जमीन पर धक्का दे दिया हो। वह गिर पड़ा। उसके बाद उसे कुछ याद नहीं। बेहोशी दूर होने पर उसने अपने को पास ही के एक मकान में पाया। धवल चादर की गद्देदार चारपायी पर वह लेटा था। सिरहाने उसी की आयु की एक बालिका बैठी उसके सर की मरहम पट्टी कर रही थी। उसकी आँखों में एक अद्भुत आकर्षण था। यह नोनिका थी। यही दोनों का प्रथम परिचय था।

प्रहार जोरों का था। संजय को सख्त चोट आयी थी। सर पर गहरा घाव हो गया था। खून से सने बाल किसी कलाकार की कूची को भी मात करते थे। चिकित्सकों ने अवस्था चिन्ताजनक बतायी थी। नोनिका ने दिन रात एक कर दिये, और यह उसी की अकथनीय सुश्रूषा और परिश्रम का फल था कि संजय मृत्यु के मुँह से बच गया। ठीक होने में पूरा एक महीना लगा, तब भी अशक्त था। नोनिका ने उसे नया जीवन दिया। वही उसकी भाग्य विधात्री बनी।

नोनिका बड़ी माँ की बेटी है। उसका परिवार अब भी भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आँखों में विह्वलता, शरीर पर एक महीन खद्दर की साड़ी और हृदय में सेवा की उत्कट भावना, नोनिका का यह रूप संजय अपने मन मन्दिर से निकाल न सका। परिचय की पहिली गाँठ जो उस अवसर पर पड़ी थी दिन पर दिन दृढ़तर होती गयी। संजय अब अपना अधिकांश समय नोनिका के यहाँ ही व्यतीत करता। उसे पुस्तकों का व्यसन था, नोनिका पुस्तकों की भंडार थी। उसका निजी पुस्तकालय काफी बड़ा था। यही पुस्तकें संजय के आकर्षण की केन्द्र बनीं। परन्तु वह आकर्षण, आकर्षण का केवल आवरण मात्र था। आवरण की सत्य तो नोनिका थी। संजय का आकर्षण उसी में निहित था।

इस प्रकार नोनिका संजय के जीवन में जैसे एक वरदान बन कर आयी। परिचय ने धीरे धीरे आदर का स्थान ग्रहण किया, और आदर स्नेह के रूप में परिणत होता गया। ईद के चाँद की तरह उनकी घनिष्ठता बढ़ती ही गयी। कोई दैवी प्रेरणा जैसे उन दोनों को आपस में मिलने को मजबूर करती थी। वे स्वयं इस बात को न जानते थे। अपने अन्दर गलते हुए हिमपिंड से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे।

फिर कैसे दोनों विलायत गये, वहाँ उच्च शिक्षा का अध्ययन किया, हिन्दुस्तान लौटे, संयुक्त रूप से एक अखबार निकाला और राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में अपना एक अकल्पित स्थान बना लिया, इन बातों से बहरहाल हमें कोई मतलब नहीं। अगर

इतना कह दिया जाय कि विदेश में उनके स्नेह के ऊपर का आवरण भी पूरी तरह से हट गया, तो, मेरे खयाल में, काफी होगा।

और हिन्दुस्तान लौटने पर उनके प्रेम सूत्र पर स्थायित्व की मुहर लग गयी। भारत माता की सेवा की प्रतिज्ञा लेते हुए उन दोनों ने एक साथ नयी दुनिया की ओर प्रथम चरण उठाया।

अचानक संजय के घर में जब यह संवाद पहुँचा कि उसने अपनी ही सहयोगिनी नोनिका से विवाह कर लिया है, तो उनके क्रोध का पारावार न रहा। चारों ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं। अगर पुरखों के मुँह में कालिख लगानी ही थी तो कम से कम पहिले राय तो ले ली होती। यह तो मालूम ही है कि वह अपने मन का है, हमारी सुनता नहीं। फिर, कायस्थों के घर में क्या लड़कियों की कमी थी? एक से एक सुन्दर, गुणवान, पढ़ी लिखी और घर के कामों में दक्ष लड़कियाँ मिल सकती थीं। संजय को भी क्या सूझा, उस छोकरी के फेर में पड़ गया। माना, नोनिका कुजात नहीं है, ब्राह्मण है, पर अपनी जाति अपनी ही जाति होती है। कोई दूसरा अपनी बिरादरी की बराबरी तो नहीं कर सकता। अगर यही होता, तो क्या हमारे पुरखे बेवकूफ थे जो उन्होंने जातपात बनायी।

'अब परलय आने में देर नहीं,' वृद्धाओं ने वेद शास्त्रों की दुहाई देते हुए कहा, 'हे भगवान, जल्दी इस लोक से उठाओ।' और फिर कानों पर हाथ रखते हुए 'बस करो, अब नहीं सुना

जाता, इस लहजे में कहा, मानों इस कलंकित सम्वाद से वे अपने कानों को अपवित्र करना नहीं चाहतीं, यद्यपि इस खबर को पूरी तरह सुनने की जितनी उत्सुकता उन्हें थी उतनी अन्य किसी को नहीं।

माँ ने कहा : मैं जानती कि मेरा बेटा ऐसा कुलच्छनी निकलेगा, तो पैदा होते ही उसका गला घोंट देती। हया शर्म तो जैसे इस दुनियाँ से उठ ही गयी। यह कलजुग जो कराये सो थोड़ा। कितना कहा कि विलायत न जाओ, पर कौन मानता है। यह जमाने की हवा ही ऐसी है।

बाप ने कहा : जो काम पुरखों ने नहीं किया, वह यह लौंडा कर बैठा। हमारे जमाने में अपने ब्याह की बात तक कोई न करता था, लेकिन अब क्या ? धर्म तो जैसे हवा में उड़ गया है। ठीक भी है, जब धर्म रहेगा तो प्रलय कैसे आयेगी। यह घोर कलयुग की निशानी है। मैं तो उस आवारा से साफ कह दूँगा कि मेरे घर में अब उसके लिए कोई जगह नहीं है। जहाँ चाहे रहे अपनी चहेती को ले कर।

सगे सम्बन्धियों ने कहा : इसने तो कुल का नाम ही डुबो दिया। हमें तो तभी शक हो गया था जब दिन रात उस छोकरी के यहाँ बैठा रहता था। और देखो आजादी का मजा। ऐसी आजादी से तो गुलामी ही भली। बुजुर्गों के मुँह में कालिख लगाते शरम भी न आयी।

गर्ज सभी ने अपने राग में उसकी वन्दना की, परन्तु संजय

तो जैसे इस प्रहार के लिये तैयार बैठा था। विलायत जाते समय भी उसके घर वालों ने कुछ इसी तरह की नाराजगी दिखलायी थी, यद्यपि दंड इतना बड़ा न था। फिर असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होकर जेल जाने के अवसर पर भी उसे कुल की परम्परा नष्ट करने वाला और उद्दण्ड आदि न जाने कितने विशेषणों से आभूषित किया गया था। और आज तो उसके लिये घर में भी जगह नहीं रह गयी है, पर संजय को इसका कोई दुःख नहीं था। वह नोनिका के साथ अपने छोटे से संसार में प्रसन्न था। उसके चिर प्रसन्न मुख को कोई नहीं उदास बना सका। घर वालों की सहानुभूति न सही, उसे सहानुभूति मिली उन लोगों से जो जाति और रूढ़ि और परम्परा के बन्धन से मुक्त हैं, जो पहिले आदमी हैं, बाद में कुछ और। गांधी जी से लेकर देश के छोटे बड़े सभी नेताओं ने वर वधू को अपने आशीर्वादों और शुभ कामनाओं से अलंकृत किया।

तब से संजय ने अपने घर का मुँह नहीं देखा। देखे भी कैसे? घर जाने से वहाँ की धरती अपवित्र हो जाती न! स्वयं नोनिका ने उसे कितनी बार समझाया, परन्तु संजय ने तो जैसे घर का मुँह न देखने की कसम सी खा ली थी।

पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। इस अवधि में न जाने कितने उतार चढ़ाव इस दुनियाँ में आये और चले गये। संजय का उषानाद अब देश का एक प्रमुख पत्र बन गया था। बड़े बड़े पत्र भी उसके सम्मुख फीके पड़ गये। नोनिका अधिकतर जेल में

रही। भारत के राजनीतिक जीवन में उसका एक अकल्पित स्थान बन गया था। जहाँ जाती, लक्षाधिक जनसमूह हृदय से उसका स्वागत करता।

इन्हीं दिनों की बात है। उसी सुबह नोनिका की जेल से रिहाई होने वाली थी। संजय उसके स्वागत की तैयारियों में व्यस्त था। घर की याद उसे जैसे भूल सी गयी थी। संजय वहाँ का स्मृतिकण भी अपने मस्तिष्क में नहीं रखना चाहता था। पुराने समाज से उसे नफरत हो गयी थी। धर्म का अर्थ जिस समाज में संकीर्णता है, वह जीवित नहीं, मर चुका है। अगर जीवित भी है तो उसे जीने का कोई अधिकार नहीं। जब तक ऐसे समाज का एक चिह्न भी अवशेष रहेगा, हमारा वातावरण दूषित ही होता जायेगा।

तभी चपरासी ने एक कार्ड लाकर संजय को दिया। उस पर उसके मामा का नाम था। मामा! आज इतने दिनों बाद! सहसा संजय को तो विश्वास नहीं आया। जिस समाज ने उसे घर निकाला दे दिया था, उसी समाज का एक व्यक्ति उससे मिलने आया है!

संजय बाहर आया। सचमुच में वह उसके मामा ही थे। दिल्ली किसी काम से आये थे। संजय की प्रसिद्धि उन्होंने सुनी थी। वह जानते थे कि सञ्जय यदि चाहे तो आज उनके लिये सब कुछ कर सकता है। गरीब आदमी थे। इधर मँहगाई ने तो उन्हें और भी चौपट कर दिया था। खाने के लाले पड़ गये

थे। सोचा, संजय से ही मिल कर देखें। ज्यादा से ज्यादा यही तो होगा कि दुत्कार देगा। ऐसी दुत्कारें तो रोज ही खाया करते हैं। उन्हें अपने पुराने कृत्यों पर दुःख हो रहा था। सोच रहे थे, उस समय संजय के कितने नाम धरे थे। पर इससे उनको कोई फायदा नहीं हुआ। उनकी सहायता के बिना ही आज संजय ने बहुत उन्नति कर ली है। संजय के निर्वासन पर उन्हें खेद था।

संजय ने कहा : मामा, आप लोग तो जैसे हमें भूल ही गये। क्या यह भी पुराने जमाने का आदर्श है ? मैं तो, खैर, कलियुगी हूँ, पर आप लोगों पर तो नये जमाने का रंग अभी तक नहीं चढ़ा।

मामा रो पड़े। बोले : बेटा, उन बातों की याद दिला कर अब मत रुलाओ। बेवकूफी के सिवा उसे अब क्या कहूँ ? तुम्हारे जाने के बाद हमारी आखें खुलीं। पाप पुण्य को हमने पहिचाना, पर नशा तब भी नहीं उतरा। सोचते थे, ठोकर खाकर एक दिन तुम हमारे कदमों पर गिरोगे और कहोगे, गलती माफ हो। पर ईश्वर सत्य के विरुद्ध कैसे कर सकता था ? हमारी आशाएँ फलवती नहीं हुईं। जो सोचा था, उसका उलटा हुआ। आज हम दर दर की ठोकरें खा रहे हैं। सुना था, तुम बड़े आदमी हो गये हो। कुछ आशा बँधी। तुम्हारे द्वार तक आया। तुम्हारे पिता को भी अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ। उन्हें उम्मीद थी कि तुम वापस आओगे। पर जब साल बीत गया और तुम्हारा पत्र भी नहीं मिला तो वे निराश हो गये। वे

चाहते थे, दिल्ली आकर वे तुम्हें और बहू को अपने साथ लिवा ले जायें, पर बेटा, लज्जावश ही वे नहीं आये। किस मुँह से वे तुम्हें बुलाने आते? संजय, तभी से उनका चित्त इस दुनियाँ से उचाट रहने लगा। घर बार उन्होंने छोड़ दिया। अब तो उन्होंने भी तुम्हारी ही राह पकड़ी है। तुम्हें तो मालूम ही होगा आजकल वे अपनी जिला कांग्रेस के प्रधान हैं और अपना सारा समय देश के कामों में लगाते हैं।

संजय चुप रहा। मामा कहते रहे: संजय, जब हमने तुम्हारे ऊपर कीचड़ उछाला था तो तुम्हें दुःख हुआ होगा। और क्यों न होता? मनुष्यता का पतन देख कर किसे दुःख न होगा। पता नहीं, तुमने हमारे बारे में क्या क्या सोचा होगा? पर हमारी आँखें तब बन्द थीं। धर्म को हमने नहीं पहिचाना था। जानते थे, माथे में चन्दन का लेप लगा कर घंटों सिर हिला कर रामायण का पाठ करना ही धर्म है। गीता का रहस्य हमने नहीं जाना था। उन्हीं दिनों हमारे महल्ले में एक महात्मा आये। प्रकाश और तेज से इतना प्रज्ज्वलित मनुष्य मैंने पहिले कभी नहीं देखा था। उनके सामने हमारी आँखें न ठहरती थीं। इतने शान्त और मृदुभाषी कि क्या कहूँ! बोलते थे तो ऐसा लगता था मानों फूल झर रहे हों। ऐसे तपस्वी साधुओं के दर्शन मुश्किल से मिलते हैं। लगता था, जैसे वह महात्मा भगवान की तरफ से हमारे लिये ही भेजे गये हों। तुम्हारे घर पर ही टिके थे। रोज सत्संग होता था, तीन तीन घंटे, चार चार घंटे। ऐसी मधुर वाणी में समझाते थे कि उठने का मन ही नहीं करता

था। जी चाहता था, दिन रात उन्हीं के चरणों में बैठ कर अमृतवाणी का पान करते रहें।

मामा ने सिलसिला जारी रक्खाः बेटा, उन्हीं स्वामी जी ने हमें दिव्य दृष्टि दी। धर्म को पहिचानने में हम समर्थ हुए। जिस प्रकार बिना भक्ति हम ईश्वर को नहीं पा सकते, उसी प्रकार बिना कर्म हम धार्मिक भी नहीं हो सकते। और आज तो देश सेवा ही ईश्वर सेवा है। ईश्वर तो देश में निहित है। वह दीनबन्धु है, दीनों का साथी है। हमें परतन्त्रता की जंजीरों में जकड़े देख कर वह महलों में मोहन भोग कैसे उड़ा सकता है। यह असम्भव है। वह भी आज देश के दीवानों के बीच जा खड़ा हुआ है। वह दरिद्रनारायण है। यदि हमें ईश्वर को प्रसन्न करना है तो हमें चाहिए कि पहिले हम उसके आदेश को पूरा करें। कोरी गीता पढ़ने से काम नहीं चलेगा। क्या तुम्हें मालूम है, गीता की सृष्टि कहाँ हुई थी? युद्धभूमि में। जब दोनों ओर की सेनायें आपस में लड़ने को तैयार थीं, नगाड़े बज रहे थे, वीरों का रणगर्जन आकाश को बेधे जा रहा था, तभी भगवान् ने अर्जुन को युद्ध का उपदेश दिया। उन्हें और समय भी तो मिल सकता था, पर गीता के लिये उन्होंने रणभूमि ही चुनी। तो तुम जब गीता को पढ़ते हो, तो यह बात भूल जाते हो कि गीता शीतल मन्दिर में पढ़ने की किताब नहीं है, वह संसार के रणक्षेत्र में, संसार की कर्म भूमि में पढ़ने के लिये बनी है। इससे यदि गीता का महत्त्व जानना चाहते हो, तो पहिले अपने मुल्क को आजाद करो, दीनों को अपनाओ, संकीर्णता को तिलांजलि दो। तभी तुम अपने को भगवान का

भक्त कह सकते हो। तभी तुम्हें ईश्वर की भक्ति करने का अधिकार भी है।

संजय, यह उपदेश नहीं, अमृत था। इसने हमारे बाह्य चक्षुओं का आवरण हटा दिया। धर्म और भगवान का अर्थ हमने समझा। तभी से तुम्हारे पिता में भी एक असाधारण परिवर्तन हुआ। मुझे तो देखकर आश्चर्य होता है, वही आदमी जो कुछ दिनों पहिले एक चमार को देखकर स्नान करता था, आज उन्हीं को गले लगाता है। राम ने भी तो निषाद को गले लगाया था। तुम्हारे पिता अब उन्हीं के बीच रम गये हैं। उन्हीं के साथ हँसते हैं, उन्हीं के साथ रोते। छुआछूत का भूत उन पर से उठ गया, उन्हीं पर से क्या, हम सब पर से उठ गया। अब वे वर्ण व्यवस्था को भी नहीं मानते। कहते हैं, वर्ण व्यवस्था जिस काल के लिये बनी थी, ठीक थी। लेकिन आज उसकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हें तो शायद पता न हो, तुम्हारी बहिन का विवाह उन्होंने गांधी जी के आश्रमवासी एक हरिजन से किया है।

यह कह कर मामा उठ खड़े हुए। संजय उन्हें रोक न सका। वे एक अर्द्ध विक्षिप्त की भाँति भागे और दौड़ कर बाजार की भीड़ में अदृश्य हो गये।

एक ही सप्ताह बाद अगस्त का ऐतिहासिक आन्दोलन छिड़ा। चोटी के नेता जेल में ठूँस दिये गये। नोनिका भी

न बच सकी। उपानाद से बीस बीस हजार की दो जमानतें माँगी गयीं। न देने पर प्रेस जब्त कर लिया गया। संजय को भी सरकार ने अपना अतिथि बनाया। पति पत्नी दोनों जेल की दीवारों के अन्दर बन्द हो गये।

एक दिन शाम को जेल का फाटक खुला और एक बूढ़ा कैदी भीतर लाया गया। उसके बाल सफेद हो गये थे, कमर लट गयी थी। संजय ने देखते ही पहिचान लिया। यह उसके पिता थे।

आम के पेड़ पर बैठी हुई कोयल कू हू बोल उठी। अंग्रेज जेलर के मकान में हेनरी टायलर का रिकार्ड धीमे-धीमे बज रहा था—पीपुल विल से, वी ब्यर इन लव.....

# बिना चौखटे की तस्वीर

सूरज डूबा तो साथ ही साथ मजदूरों का चिराग भी गुल हुआ। मिल मालिक ने ऐन मौके पर पुलिस की सहायता ली और सूर्य किरणों के छिपने के साथ ही उनकी बन्दूकों के मुख से सीसे की गोलिओं से बनी लाल किरणें निकल पड़ीं।

तो हमारे शहर के मजदूरों की हड़ताल का यह सातवाँ दिन था। मिलों के चारों ओर मजदूरों का घेरा था, फाटकों पर ताले लटक रहे थे। भरी सभा में मजदूरों ने प्रण किया था--हम अपने अधिकार लेकर रहेंगे, अधिक दिनों तक हम गुलामी का नाच नहीं नाच सकते। लिहाजा जब मिल मालिक को हड़ताल की नोटिस दी गयी तो उन्होंने हड़तालियों के लीडरों को अपने घर

बुलाया। मक्खन लगे टोस्ट के साथ चाय पिलायी, मजदूरों को समझाने के लिए आरज़ू मिन्नतें कीं और बड़े बड़े वायदे किये--बशर्ते अभी हड़ताल न की जाये, मगर वे लोग भी कच्ची गोटी न खेले थे। सेठ जी अपने प्रयत्न में नाकामयाब रहे और ठीक चौदहवें दिन मजदूरों ने हड़ताल का ऐलान कर दिया।

हमारा शहर बड़ा है। कपड़े की कई मिलें हैं, एक कागज़ का कारखाना है और कुछ शक्कर के। बाज़ारें बड़ी हैं, व्यापारी मालदार हैं, सेठों की कोठियों के आगे पहाड़ी दरबान घूमा करते हैं। कण्ट्रोल और राशनिंग सम्बन्धी असंख्य कठिनाइयों के होते हुए भी हमारे नगर की मध्यवर्गीय जनता खुशहाल नज़र आती है। एलेक्शन खत्म हो चुके हैं, भारत के सभी प्रान्तों में कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है और प्रान्त में लोकप्रिय शासन--जनता के शासन--की स्थापना भी विधिपूर्वक हो चुकी है। बड़े बड़े अंग्रेजों के बँगलों में अब खद्दरधारी कांग्रेसी रहते हैं, पर तब भी वहाँ गरीबों की पहुँच नहीं। कांग्रेसी 'साहब' के द्वार पर भी लाल चोग़ा और सफ़ेद अमामों वाले उतने ही चपरासी मौजूद रहते हैं जितने विलायती 'साहबों' के जमाने में थे। 'साहब' की इन्तजारी में जितना पहिले बैठना पड़ता था उतना ही अब भी बैठना पड़ता है। तब भी साहब 'गुसल' करता था, अब भी 'गुसल' करता है, फर्क सिर्फ यही है कि तब का साहब गुसल करने के बाद क्रीज़ी पतलून और टूवील की कमीज़ पहिनता था, आज का साहब अस्सी नम्बर की--'स्पाटलेस'--खद्दर की धोती और कलफ़दार कुरता पहिनता है।

एकाएक स्थानीय मजदूर यूनियन के मंत्री साथी अमृत ने मेरे कमरे में घुसते हुए कहा—क्या बुत बने बैठे हो यार ? कुछ पता भी है, अरविन्द गिरफ्तार हो चुका है।

अरविन्द मजदूरों का एक अपना नेता और प्रान्तीय यूनियन का कार्यवाही सभापति था।

मैंने पूँछा--यह कैसे ?

मेरी पीठ पर एक घूँसा जमाते हुए उसने कहा--यह सब बैठे बैठे पूछने से काम नहीं चलेगा। वहाँ चलो, सब अपनी आँखों देखो और खुद कुछ काम सँभालो। अन्सार और लेखा बेचारे अकेले वहाँ पिस रहे हैं। अरविन्द की गिरफ्तारी से मजदूरों का असन्तोष बहुत बढ़ गया है। इधर पुलिस भी अपने पूरे साजो सामान के साथ मौजूद है--पता नहीं कब गोलियों से भुनना पड़े।

खैर ! मैं चला। अमृत साथ था। अरविन्द की गिरफ्तारी कोई साधारण बात न थी, मुझे भय था, मजदूर अब अनुशासित नहीं रह सके होंगे। उन सबों के बीच की कड़ी अरविन्द ही था, रात दिन खून पसीना एक करके उसी ने उन्हें इस योग्य बनाया था कि वे अत्याचार के खिलाफ संयुक्त आवाज उठा सकें। नहीं तो आज कल के जमाने में—हिन्दू, मुसलमान और सिख, जब सभी एक दूसरे के खून के दुश्मन हो रहे हैं, तमाम फिरकों को एक सूत्र में बाँधना सचमुच में एक कठिन कार्य था।

यों रामतीर्थ नगर से इण्डस्ट्रियल एरिया के लिए तांगे दो

रुपए से कम नहीं लेते, पर उस दिन सस्ता ही मिल गया। ताँगा वाला मुसलमान था—७५ वर्ष का बूढ़ा। बाल खीर की तरह सफेद थे और डाढ़ी मेंहदी से रँगी हुई। रास्ता दूर का था। मियाँ से बातें शुरू कीं। खुशदिल आदमी लगा, दिलचस्पी पैदा हुई। मुझ से पूँछा—यह हड़ताल कब तक खत्म होगी बाबू जी? आखिर बेचारे मजदूर कितने दिनों तक इस तरह धरना देते फिरेंगे? उनके भी बाल बच्चे हैं, मेरी समझ में नहीं आता, सरकार क्यों इस तरह की जबर्दस्ती कर रही है?

बात तुक की थी। मुझे ठीक मालूम दी। आखिर ज़बरदस्ती नहीं तो क्या है? अगर सरकार चाहे तो आज ही समझौता हो सकता है, लेकिन वह भी तो—

खैर। मैंने कहा—क्यों मियाँ, इन मजदूरों से तुम्हें सहानुभूति है?

—वाह बाबू जी, सहानुभूति क्यों न होगी? आखिरकार हमारे ही भाई बन्धु तो हैं। जब हमारे ऊपर मुसीबत आयेगी तो कौन हमारी मदद को दौड़ेगा—यही मजदूर न? बड़े लोग तो बातें करने भर को हैं। काम तो छोटों से ही पड़ता है।

मेरी ओर उसने देखा। मैंने हुंकारी भरी। उसने फिर कहना शुरू किया—अब यही देखिए बाबू जी, चुनाव के जमाने में यही लीग वालों ने क्या क्या नहीं किया? हर एक के घर गये, थैलियों रुपया लुटाया, बड़े बड़े वायदे किये—यह करेंगे, वह करेंगे, लेकिन किया क्या? हमने तो यह समझ कर वोट दिया कि

भाई, लीग मुसलमानों की जमात है, हमारा कुछ भला ही होगा; लेकिन बाबू जी सच कहता हूँ—वे सब सपने थे। मैं तो आज भी वैसा ही गरीब हूँ जैसे पहिले था; बदन ढकने को कपड़ा और पेट भर खाना तब भी नहीं नसीब था, अब भी नहीं—बोलिए, मेरा क्या फायदा हुआ ? फायदे में रहे वे, जो अमीर हैं !

मैंने पूँछा—तो मजदूर फंड में क्या कभी तुमने भी कुछ दिया है ?

'क्यों नहीं दूँगा, बाबू जी ?' उसने कहा, 'दो बार दो दो रुपए दे चुका हूँ। खाने पीने के बाद जो कुछ भी बचता है, मैं दे देता हूँ।'

जगह आ गयी। हम लोग उतरे। ताँगे वाले को रुपए देने लगे तो उसने पूँछा—बाबू साहब, हड़ताल से आप लोगों का भी क्या कुछ ताल्लुक—

मेरे उत्तर देने के पहिले ही अमृत बोल उठा—हाँ हाँ, ये बाबू जी ही हड़तालियों के अगुवा हैं !

'तो बाबू जी,' रुपया मेरे हाथ में वापस करते हुए उसने कहा –'इसे भी आज के चन्दे में मेरी ओर से लीजिए। और नहीं तो क्या—क्या पता फिर कभी मौका मिले या नहीं—'

मुझे तो खुशी के आँसू आ गये। ऐसे ऐसे लोग जब हमारे साथ हैं तो कभी भी हमारी हार नही हो सकती। भारत गरीब है, यहाँ के निवासी गरीब हैं। किसी भी काम की सफलता के

लिए हमें इन गरीबों की ही सहानुभूति प्राप्त करनी होगी। अमीर तो कोल्हू के बैल हैं—सरकार जिधर चाहेगी, उन्हें नचायेगी। वे चूँ नहीं कर सकते।

मिल एरिया लाल पगड़ी वालों से भरा था। कुछ के पास लाठियाँ थीं, कुछ के पास बन्दूकें। मजदूरों के स्वयं सेवक भी अपने कर्त्तव्य से अनभिज्ञ न थे। उनके सीने पर लगे लाल बिल्ले ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे देवी के मस्तक पर किसी भक्त ने लाल सिन्दूर लगा दिया हो। हड़ताल का सातवाँ दिन चल रहा था, लेबर मिनिस्टर के कानों में जूँ नहीं रेंग रही थी, पर तब भी मजदूर अपने मोर्चे पर बहादुर की तरह डटे थे। घर में खाने को एक दाना नहीं—बच्चे एक बूँद दूध के लिये तरस रहे थे, पर मजदूरों ने तो जैसे अपने ध्येय की पूर्ति होने से पहिले वहाँ से न हटने की कसम सी खा ली थी। भुने चने आते, कभी सेतवा और गुड़, और यही उन लोगों का पिछले छः दिनों से आहार था—पर तब भी उनमें जो फुर्ती, जो जोश और जिस संगठित शक्ति का आभास होता था, वह पहिले कभी स्वप्न मात्र की चीज थी। मजदूरों ने अब अपने आप को पहिचाना था, अपने अधिकारों को समझा था और यह भी देखा था कि उनकी हड्डियों का रक्त चूस चूस कर किस प्रकार सोने के महल खड़े किये जा रहे हैं। अपने ही पथप्रदर्शकों के अत्याचार देखकर उनका रक्त उबल पड़ा। वे अधिक दिनों तक शान्त न बैठ सके। प्रतीक्षा की भी सीमा होती है, और उस सीमा को उन्होंने अच्छी तरह—धैर्यपूर्वक पार कर लिया था। उन्होंने समझ लिया—अब प्रतीक्षा से कुछ न होगा, सब्र सब्र बहुत

दिनों से सुन रहे हैं, अपना राज भी हमारी ओर से उदासीन है, अब चुपचाप बैठने से काम नहीं चलेगा। समय पर प्रकृति ने उन्हें उचित नेताओं का सहयोग दिया। उनके नेतृत्व में वे बढ़े, अपनी दयनीय स्थिति पहिचानी और संयुक्त आवाज के महत्व को जाना। हिन्दू मुसलमान का कोई सवाल नहीं रह गया - मजदूर मजदूर है, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। सब एक सूत्र में बँधे और अत्याचार के खिलाफ साथ साथ आवाज उठायी। गरीब जनता उनके साथ है, यह वे जानते थे। अपनी संगठित शक्ति का भी उन्हें अन्दाजा था, वे अपने हकों, अपने अधिकारों से परिचित थे। पाशविक खूँरेजी के विरुद्ध उन्होंने संगठित रूप से कदम उठाये। अपने निश्चय से सुई भर भी हटना उनको असह्य था, दमन ताण्डव से वे डरने वाले नहीं थे। अपने ऊपर उन्हें दृढ़ विश्वास था। वे जानते थे--हमें अपने रास्ते से कोई भी शक्ति अलग नहीं कर सकती। यह बात नहीं कि वे समझौता नहीं चाहते थे, वे चाहते थे कि किसी प्रकार समझौता हो जाये, लेकिन समझौते के लिए वे अपना सम्मान नहीं बेचना चाहते थे। मजदूरों के नेताओं ने क्या हड़ताल को रोकने की भरकस कोशिश नहीं की? उन्होंने की, पर ताली एक हाथ से नहीं बजती। सालों से तो वे कोशिश करते आये हैं, मिल मालिक से लेकर श्रम मंत्री तक तो वे बीसियों दौड़ लगा चुके हैं, लेकिन मिला क्या—कोरे आश्वासन! और कोरे आश्वासनों से आदमी का पेट नहीं भरता; उसके लिये तो रोटी की जरूरत होती है और रोटी के लिए पैसे की। प्रान्त में लोकप्रिय सरकार स्थापित होने पर उन्हें कुछ आशा बँधी थी; वे समझते थे, हमारे प्रतिनिधि हमारा भला

करेंगे। पर वायदे झूठे निकले : सब्र करने का उपदेश मिला और आधा पेट खाकर मुँह बन्द रखने का आदेश, और इस तरह बँधी हुई आशा की कमान लचते लचते आखिरकार टूट ही गयी !

मोर्चे के स्वयं सेवक अपने काम पर मुस्तैद थे और दारोगा और पुलिस कर्मचारी अपने काम पर। लाल पगड़ी और लाल बिल्ले का अच्छा खासा दंगल था। लाल पगड़ी मस्तिष्क के ऊपर थी, लाल बिल्ला हृदय के ऊपर। पुलिस वाले मस्तिष्क के बल द्वारा हड़तालियों पर हावी होना चाहते थे, हड़ताली हृदय द्वारा पुलिस पर विजय प्राप्त करना चाहते थे। एक तरह से यह मस्तिष्क और हृदय, तर्क और विश्वास की लड़ाई थी और जीत किसकी होगी---यह कोई नहीं जानता था।

अब तक पाँच सौ से अधिक हड़ताली गिरफ्तार किये जा चुके थे, पर तब भी मजदूरों में अशान्ति का चिह्न तक नहीं दिखलायी देता था। उनमें उसी तरह की गम्भीरता थी जिस तरह किसी भी महत्वपूर्ण काम करते समय होनी चाहिए। अपनी जिम्मेदारी वे महसूस करते थे। वे चाहते थे---हमसे कोई भी काम ऐसा न हो जिससे विपक्षियों को हमें बदनाम करने का मौका मिले, और शायद इसी वजह से अरविन्द के गिरफ्तार होने के बाद भी उन्होंने अपने संगठन को बिगड़ने नहीं दिया। एक हड़ताली गिरफ्तार होता, उसकी जगह चार नये आ जाते। उनके घेरे की इस्पाती दीवाल तोड़ना मामूली काम नहीं है---दूर पर हाथ में सुरती मलते हुए सिपाही इस बात से भली भाँति परिचित थे।

और अगर ये सिपाही भी आज संगठित होते, मैं सोचता,

तब भी क्या यह इसी प्रकार अपने अफसरों के इशारे पर नाचते ? आज सबसे बड़ी आवश्कता हमें इस बात की भी है--सिपाहियों को संगठित करें, उन्हें मनुष्य बनायें, उनके पत्थर से हृदय में सहानुभूति के पौदे उगाने की कोशिश करें। सिपाही भी झूठ सच, न्याय अन्याय, पाप पुण्य समझें; निरपराध को कत्ल करने के लिये उनके जल्लादी हाथ न उठें, वे साफ इन्कार कर दें; और यदि वे साथ साथ रहते हैं, उन्होंने अपने को संगठित कर लिया है, तो बड़ी से बड़ी ताकत भी उनका बाल बाँका नहीं कर सकती है-न कर सकेगी।

मगर ठहरिए। संगठन भी तो आज एक अपराध है, मिल-कर रहना बड़ा भारी जुर्म है। पुलिस वाले मिलकर न रहें--क्या मुजायका अगर हमने भारत रक्षा के कानूनों को जन सुरक्षा के नेयमों का जामा पहिना दिया हो--और चीज़ है याद रखने की; यह कानून हमने--स्वयं हमारे प्रतिनिधियों ने, हमारे ऊपर लादा है--किसी विदेशी शासन सत्ता के कारनामें नहीं है यह। वे ही व्यक्ति आज संगठन के खिलाफ हैं--संगठन संगठन है, चाहे वह केसान-मजदूरों का हो, चाहे पुलिस और फौजियों का--जिन्होंने एक दिन इसी के लिए पुलिस की लाठियाँ खायी थीं--वे ही व्यक्ति आज जन स्वातंत्र्य के पक्ष में एक एक बात भी नहीं सुनना चाहते जिन्होंने कभी इसी की पूर्ति के लिए पानी पी पी कर विदेशी शासकों को जी भर कर कोसा था। आपको आश्चर्य होता है यह देखकर, मुझे भी आश्चर्य होता है--मगर दरअस्ल इसमें आश्चर्य की बात ही कौन सी है ? भारत रक्षा कानून विदेशियों का बनाया हुआ था, जन सुरक्षा के नियम हमने बनाये हैं। एक

विदेशी, दूसरा देशी। अपनी खराब चीज़ भी दूसरों से अच्छी मानी जाती है। अपनी चीज़ में अपनत्व की मोहर रहती है न! उस पर हमें पूर्ण अधिकार रहता है और हम--

लेकिन यह तो मैं बहुत दूर पहुँच गया। कहाँ की बात कहाँ खत्म हुई। यह मनुष्य का स्वभाव है, मेरा दोष नहीं। आदमी जब पग पग पर ठोकरें खाता है--उसके नाते रिश्तेदार जब उसकी सूरत देखकर मुँह फेर लेते हैं--उसके घर वाले भी जब उसे देखकर पूछते हैं--आपका शुभ नाम ?--तो उसके दिल में एक ठेस लगती है और वह ठेस मामूली नहीं होती। उस ठेस के लगने से आदमी के मस्तिष्क में जो विचार भरे रहते हैं--'अपने' आदमियों से जो आशा बँधी रहती है--वह मवाद बनकर बाहर निकल आती है। आदमी प्रयत्न करता है, वह न निकले; पर प्रयत्न प्रयत्न ही रह जाता है।

खैर, छोड़िए इन बातों को--मजदूर के जीवन में विचार का स्थान नहीं, उसी तरह जिस तरह रूढ़िगत परम्पराओं में बुद्धि के उपयोग की आवश्यकता नहीं। हमारे आक़ा हमें नहीं समझ सकते--समझने की उनमें सामर्थ्य भी नहीं। वे यह नहीं समझ सकते, हम भी आदमी हैं, हममें भी जान है, हम भी खाते पहिनते हैं, हमें भी घर में रहना होता है। दिन रात मशीन की तरह पिसना और हर सातवें दिन चाँदी के चन्द टुकड़े लेना--वह भी मजदूरी के तौर पर नहीं, इनाम समझकर। और हमें बस यही समझना चाहिए तो सारा मामला साफ़--नौकर नौकर और मालिक मालिक।

पुलिस के सिपाही चार चार की टोलियों में घूमते हुए गप्प लड़ा रहे थे। वे यह बात अच्छी तरह समझते थे कि आज का मजदूर पुराना मजदूर नहीं रह गया है; अब वह आगे बढ़कर—खाली हाथ से नहीं, लोहे के हथौड़े से चोट करता है--और इसी लिये वे चुप भी थे। पहिले जैसी अकड़ उनमें नहीं थी, लगता था जबर्दस्ती उनसे यहाँ काम कराया जा रहा है। हाथ के डण्डे से नहीं, मुँह की ज़बान से वे अब मजदूरों के सवालों का जवाब देते थे—कोई कोई ऐसे भी थे जो हड़तालियों से दोस्ती पैदा करने की भी कोशिश करते थे। दूसरी ओर सेठ जी का माइक्रोफोन गला फाड़ फाड़ चिल्ला रहा था—काम करो मजदूरों, काम करो। आज मुल्क में कपड़े की कमी है, और फटे चीथड़े पहिनकर लोग जिन्दगी बसर कर रहे हैं। देश को आज सबसे ज्यादा तुम्हारे सहयोग की ज़रूरत है—मुल्क को आजादी हासिल करने में मदद करो, काम शुरू करो—काम पर जानेवालों को कोई नहीं रोक सकता--चलो, आगे बढ़ो, मजदूरो।

'शाबाश', पास के बम्बे में मुँह हाथ धोते हुए एक जवान मजदूर ने कहा--लगता है, आजादी की फिकर सबसे ज्यादा इन्हीं को है। .....जब चिल्लाते हैं बदमाश, तो यह भूल जाते हैं कि पेट पहिले है, आजादी पीछे। भूखे पेट आजादी की लड़ाई नहीं लड़ी जाती।

--अरे यह सब हम लोगों को फुसलाने के ढंग हैं—एक बूढ़े हड़ताली ने कहा—नहीं तो यही सेठ जी जिन्होंने लाखों रुपए लड़ाई के जमाने में सरकार को दिये—आजादी की दुहाई क्यों लगाते ?

—ऐसे बहकावे में नहीं आ सकते। यहाँ तो कौल कर चुके हैं कि या तो कारखाने के अन्दर जीत ही कर जायेंगे या उसके अन्दर पग ही न रक्खेंगे।

—पाँच सौ साथी तो गिरफ्तार किए जा चुके, पहिले उन्हें छोड़ें तो हमारे पास आयें—बेहया कहीं के।

एक दूसरे हड़ताली ने कहा—सुना है, सेठ जी ने आज बारा न्यारा करने का तय कर लिया है। हम भी देखेंगे, शाम तक कितनी लहासें यहाँ गिरती हैं।

—हाँ, मरना तो एक दिन है ही, क्यों न अपने कौल पर मिटके मरें!

—हम लोग ऐसी गीदड़ भपकियों में आने वाले नहीं हैं। सेठ जी को जो कुछ करना हो, कर लें। यहाँ हम भी तैयार बैठे हैं।

बात सचमुच में यही थी। मिल मालिक ज्यादा दिनों तक हड़ताल सहन न कर सकते थे। श्रम मंत्री से भी वे सलाह कर चुके थे और उन्होंने हड़तालियों के खिलाफ 'जंग' करने के लिये मालिक को पूरी आजादी दे दी थी। पुलीस का एक पूरा जत्था सेठ जी के हवाले कर दिया गया था, जिसका वे 'जब चाहे' इस्तेमाल कर सकते थे। सेठ जी भला इस मौके से कब चूकने वाले थे! 'समझाया बुझाया—प्यार से, कि अभी हड़ताल न करो, मगर बदमाश माने नहीं'—सेठ जी सोचते—'लात के देवता

बात से नहीं मानते। ईंट का जवाब पत्थर ही दे सकता है—और.....और—

और मजदूर भी कहते--लात के देवता बात से नहीं मानते। ईंट का जवाब पत्थर ही दे सकता है—और.....और तभी ये मोटी तोंद वाले सुधरेंगे।

इसी लिए जब स्थिति सुधरते न देखी, सेठ जी ने अपने 'हक' का इस्तेमाल करना चाहा। दारोग़ा जी 'खिदमत' में सदल-बल 'हाजिर' थे। हुक्म की देरी थी और वह मिल गया। मौके पर खुद कमिश्नर साहब मौजूद थे, और बड़े डिप्टी, छोटे डिप्टी--जण्ट कोतवाल वगैरह सभी तो थे। दारोग़ा साहब को भी अपनी कारगुजारी दिखाने का अच्छा मौका मिला--इसे वे हाथ से जाने देना नहीं चाहते थे। अपनी खिजाब लगी मूँछें ऐंठते हुए वे आगे बढ़े, घोड़े पर ऐड़ लगायी और 'बागी' हड़-तालियों को कुचलने के लिए चल पड़े।

सिपाहियों को तो एक इशारा काफ़ी था। उनकी लाल पग-ड़ियों की जगह लोहे के टोपों ने ली और लाठी की जगह बन्दूकों ने--मतलब यह कि मोर्चा लेने के लिए पूरी तरह की तैयारी का सर्टिफिकेट उन्हें अब मिल गया था। हड़ताली भी तैयार थे--अपने लाल झण्डे की साया में। मरने जीने का डर उन्हें अब नहीं था। वे जीना चाहते थे, पर मरकर नहीं; वे समझौता चाहते थे, पर सम्मान बेच कर नहीं।

× × ×

दूसरे दिन सुबह देश के सभी प्रमुख दैनिक पत्रों में लोगों ने पढ़ा--

".....बृहस्पतिवार। यहाँ की काटन मिल में विगत सप्ताह से जो हड़ताल चल रही थी वह आज संध्या समय समाप्त हो गयी। मजदूरों की अधिकांश माँगें स्वीकार कर ली गयी हैं और आशा है कारखाने का काम कल से चालू हो जायगा।

इसके पहिले मिल के फाटक पर जमा हड़तालियों की भीड़ को तितर बितर करने के लिए पुलिस को आँसू गैस और गोलियों का उपयोग करना पड़ा जिसके फलस्वरूप स्थानीय मजदूर यूनियन की अध्यक्षा सुश्री चन्द्रलेखा सख्त घायल हुईं। लगभग सौ मजदूर भी जख्मी हुए जिनमें से पच्चीस की हालत चिन्ताजनक बतायी जाती है।

यह भी ज्ञात हुआ है कि गिरफ्तार हड़तालियों पर मुकदमा नहीं चलाया जायगा और वे दो तीन दिन में रिहा कर दिये जायँगे। --ए० प्रे०"

उन्हीं पत्रों के छपते-छपते कालम में निम्न सम्वाद मोटे अक्षरों में प्रकाशित हुआ--

".....ताजी खबर है कि आज साय काटन मिल के मजदूरों की हड़ताल के सम्बन्ध में पुलिस की गोलियों से आहत स्थानीय मजदूर यूनियन की अध्यक्षा सुश्री चन्द्रलेखा की आज रात ११ बजे अस्पताल में मृत्यु हो गयी।"

और जो विजय मिली, वह कितनी महँगी !

× × ×

तो चन्द्रलेखा मर गयी। हाँ, मर गयी, पर उसकी स्मृति सदा जीवित रहेगी। वह अमर है, उसे कोई नहीं मार सकता।

चन्द्रलेखा को मैं शुरू से जानता हूँ। हड़तालियों की नेत्री थी वह। पहिले कभी कांग्रेसी कहलाने में उसे भी गौरव था, अब हमारी यूनियन की एक कर्मठ कार्यकर्त्री थी। यहाँ के मजदूरों में उसने एक नयी जान पैदा कर दी थी; उन्हीं की सेवा उसने अपना पेशा बना लिया था और मजदूर भी उसके कार्यों से अपरिचित नहीं थे। मजदूर बस्ती का बच्चा बच्चा उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। उसके एक भाषण से कभी नौकरशाही थर्रा उठती थी और आज शक्तिप्रिय लोकनेताओं की शासन सत्ता--अन्तर केवल इतना था कि तब जो उसकी पीठ ठोंकते थे, अब वही पीठ पीछे गाली देते हैं।

अभी उस दिन जब वह मुझे मिली थी, तो इसी हड़ताल के सम्बन्ध में बहुत देर तक बातें करती रही। कहती थी--मुझे तो आशा थी कि कांग्रेस मंत्रि-मण्डल के पदग्रहण के पश्चात्—जैसा उसने अपने 'एलेक्शन मैनिफेस्टो' में भी कहा था--मजदूरों की हालत सुधरेगी, परन्तु यहाँ तो उसका उलटा हो रहा है। हमारे मंत्रिगण तो आज श्रम सुधार सम्बन्धी कोई बात ही नहीं सुनना चाहते। विश्वास तो नहीं होता, पर जब लोगों को कहते सुनती

हूँ कि कांग्रेसी आज पूंजीपतियों के दास हो रहे हैं तो मुझे--एक कांग्रेस-भक्त होने के नाते--अपने और अपने नेताओं के ऊपर लज्जा आती है। बुरा न मानना; खादी की पोशाक में आज मुझे शान्ति और शुद्धता की नहीं, अधिकारप्रियता और कोरे ढोंग की निशानी दिखलायी देती है।

चिढ़ाने की गरज से मैंने कहा था—अगले साल जून में तो अंग्रेज जा ही रहे हैं, उनके बिस्तर बाँधने में मदद देने में हम इतने व्यस्त हैं कि दूसरा काम करना सम्भव नहीं। जब वे चले जायेंगे, अच्छी तरह उनका सामान हम जहाज पर पहुँचा देंगे, तब हमें अपने अन्दरूनी मसलों को हल करने का समय मिलेगा, और तभी हम इन झगड़ों में पड़ेंगे। तब तक क्यों नहीं सब्र--

'सब्र-सब्र-सब्र; कहाँ तक सब्र करें हम ?' लेखा उबल पड़ी थी--'अंग्रेज कहते थे लड़ाई खत्म होने तक सब्र करो, नेता कहते हैं जून, ४८ तक सब्र करो। नेताओं ने जब स्वयं सब्र नहीं किया—आन्दोलन शुरू किये--जेल गये--तो दूसरों को सब्र करने का उपदेश देने का उन्हें क्या अधिकार है ?

मैंने कहा--भाई, जल्दी से बिस्तर बाँध दें--

बात खत्म होने के पहिले ही वह बोल उठी--'बिस्तर बाँध दें ! क्यों बाँधें बिस्तर ? बिस्तर अंग्रेजों का नहीं है, वे अपने घर से उसे नहीं लाये हैं। हमारे ही बाप दादों से बिस्तर छीनकर वे उस पर सोये हैं। नहीं ले जाने देंगे हम अपना बिस्तर उनको।'

बात कहाँ से कहाँ पहुँच गयी थी। मुझे मतलब था हड़ताल

से, न कि फिजूल की बहस से। उसी दिन मैं बाहर से लौटा था—थका माँदा और मजदूरों की तमाम गति विधि से बिलकुल अनभिज्ञ। मिल मालिकों और श्रमिकों के प्रतिनिधि मण्डल के बीच क्या तय हुआ, क्या बातें हुईं, समझौते की बातचीत में कितनी प्रगति हुई, यह सब जानने की मुझे उत्सुकता थी। अखबार में पढ़ा था--दोनों दलों में खूब बढ़कर बातें हुई--और उसका फल भी वही हुआ जो होना चाहिए था। मालिकों ने समझौते की कोई शर्त स्वीकार नहीं की और मजदूर भी झुकने को को तैयार न थे। फलतः हड़ताल हुई और जोरों की हुई। आखिर में विजय तो हुई, पर उसका मूल्य कितना चुकाना पड़ा-

और सूरज डूबा तो साथ ही साथ मजदूरों का चिराग़ भी गुल हुआ। मिल मालिक ने ऐन मौके पर पुलिस की सहायता ली और सूर्य किरणों के छिपने के साथ ही उनकी बन्दूकों के मुख से सीसे की गोलियों से बनी लाल किरणें निकल पड़ीं!

समाज '४८ ]

# रूप और ऋतु

रूप करीब करीब तैयार हो गयी थी। नीचे उसका मित्र सईद खड़ा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। रूप ने बाथरूम से निकल कर जल्दी जल्दी तौलिये से मुँह पोंछा, फिर पाँच मिनट में मेक अप किया और कलाई में बँधी घड़ी को देखते हुए उसने खिड़की से झाँककर आवाज दी—'अभी आती हूँ, सईद। तैयार ही हूँ।'

फिर उसने जल्दी से शीशे में मुँह देखा, वैनिटी बैग हाथ में लिया और नीचे उतर कर सईद के साथ उसकी मोटर पर घूमने चली गयी।

रूप और सईद—हमारे नब्बे फीसदी पाठक इन नामों को सुन कर चौकेंगे। चौंकें, तो कोई विशेष आश्चर्य की बात भी

नहीं। हिन्दुस्तान का वातावरण अभी इन बातों को सुनने का आदी नहीं हुआ है। उसके लिए यह बातें नयी ही हैं। यों दकियानूसी लोग कहेंगे—'हाँ, हाँ, यह कोई असम्भव बात थोड़े ही है, आज का जमाना जो कराये, वह कम!' पर जब वे ऐसा कहेंगे, तो मैं बड़े अदब के साथ हाथ जोड़ कर उनसे निवेदन करूँगा—'हुजूर, गुस्ताखी माफ हो; बात आज की नहीं, तीस साल पुरानी है—करीब करीब आप ही के जमाने की!'

पंडित हीरालाल ने जब देखा कि उनकी पुत्री पूरी तरह से पश्चिमी ढाँचे में ढल रही है, तो उन्हें कुछ चिन्ता हुई। यों स्वयं वे पूरी तरह से नये कायदे के थे और अपने विचारों के अनुसार ही वह अपने परिवार के सदस्यों को पूरी वैयक्तिक स्वतंत्रता देने के पक्षपाती भी थे। उन्होंने अपने घर भर को उसी ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया, पर उनकी पत्नी रानी के ऊपर उनका रंग न चढ़ सका। रानी तब भी पूजा पाठ करती थी और तुलसी के पत्तों को पानी चढ़ाकर पतिदेव के स्वास्थ्य की प्रार्थना करती थी। फल यह हुआ कि पंडित हीरालाल भी पूरी तरह से विलायती न हो पाये; क्योंकि कोई भी गाड़ी बिना दोनों पहियों के बराबर हुए ठीक तरह से नहीं चल सकती। यों रानी पंडित हीरालाल के विचारों का विरोध नहीं करती थी, उसके नियम विनयन केवल अपने लिये थे; पर तब भी पत्नी का कुछ असर पति पर पड़ ही गया, और इसी वजह से जब पंडित हीरालाल ने एक विधर्मीय से रूप की मित्रता बढ़ती देखी, तो उन्हें कुछ चिन्ता अवश्य हुई।

रानी ने रूप को जाते हुए देखा था, इससे वह कुछ उद्विग्न

थी। पंडित हीरालाल के पास जाकर उसने कहा—"देखा अपनी लाड़ली को—तितली की तरह फुदकती फिरती है! कुछ परवाह ही नहीं कि घर में भी कुछ काम काज है या नहीं। जहाँ वह आया, बस—यह नौ दो ग्यारह हुई! मैं कहती हूँ, इस तरह कब तक चलेगा? आख़िर हमारी भी जात बिरादरी है, कुल परम्परा है। लोग इस तरह देखेंगे तो क्या कहेंगे? अंगुलियाँ तो अभी से उठने लगी हैं। लोग कहते हैं—'बड़े बड़े अंग्रेज़ीदां देखे, पर यह अंधेर कहीं नहीं देखा!' तुम्हीं सोचो, हिन्दुस्तान विलायत नहीं हुआ है!"

"हां, तुम ठीक कहती हो, हिन्दुस्तान अभी विलायत नहीं हुआ है कि लाजशरम ताक पर रख दी जाये"—पंडित हीरालाल ने चिन्तित स्वर में कहा, "मैं कई दिनों से इस बारे में सोच रहा हूँ। अब जल्दी ही कोई तरकीब निकालनी होगी। पर तुम ही क्यों नहीं उसे समझातीं?"

दूसरी तरफ़, उस जगह से एक मील के फासले पर, मिण्टो पार्क के एक सुनसान कोने में खाली बेंच पर सईद के गले में बाहें डाले रूप कह रही थी—'हम दोनों कब एक होंगे, सईद? तुम्हें देखकर तो मैं अपना सब कुछ भूल जाती हूँ, पता नहीं कौन सा आकर्षण है तुममें? मैं तो आज ही पापा से अपने विवाह के बारे में बात करूँगी।'

'ठीक तो है रूप'—सईद कह रहा था, 'पर तुम्हारे पापा इस प्रस्ताव को मानेंगे भी? तुम हिन्दू, मैं मुसलमान; मैं गरीब, तुम अमीर;—आज का हिन्दुस्तानी समाज इस बात की मंजूरी दे

सकता है ? मुझे तो आशा नहीं।'

'हटो जी, तुम्हें तो यही सब सूझा करता है ! मेरे पापा ऐसे नहीं। जब हम दोनों में प्रेम है, हम दोनों स्वयं ही एक होना चाहते हैं, तो पापा को क्या फायदा मिलेगा हमारे बीच में रोड़ा बनकर ? वह ऐसे बुद्धिहीन नहीं हैं। मैं तो समझती हूँ, हमारी शादी से वह प्रसन्न ही होंगे !'

रूप घर लौटी तो रात के दस बज चुके थे। रानी रामायण का पाठ कर रही थी और हीरालाल अपने मवक्किल की मिसलों में उलझे थे। रूप सीधी उनके कमरे में गयी और अपने हाथों से उनकी आखें मूँदते हुए कहा—'पापा, पहिचानो तो मैं कौन हूँ ?'

'कौन ?' — हीरालाल बोले, 'रूप बेटी ! पर इतनी देर तक कहाँ थी तू ?'

'मैं अपने एक दोस्त के साथ जरा सैर करने चली गयी थी,' रूप ने बात सुलभ सरलता से कहा।

'पर मैं भी तो सुनूँ, कौन सा दोस्त था वह ?' पंडित हीरालाल की आवाज में तेजी स्पष्ट झलकने लगी थी, — 'और किसके साथ आप इतनी देर से मजे लूट रही थीं ?'

'पा·····पा·····' अकल्पित वातावरण देखकर रूप अचरज में पड़ गयी थी।

'कुछ नहीं, जा सो जाकर। और कल से मैं तुझे फिर कभी सईद के साथ न देखूँ—समझी ?'

कहते हैं, प्रेम अन्धा होता है। अपने रास्ते में वह पहाड़, नदी, झील और झाड़ियाँ नहीं देखता। उसकी गति सदा एक सी रहती है--फिर उसके रास्ते में चाहे हिमालय की चोटियाँ पड़ें या अरब सागर की तलहटी।

पिता के रुख पर रूप को आश्चर्य था। वह उन्हें ऐसा नहीं समझती थी। आखिर क्यों उन्हें हमारा मिलना जुलना नहीं भाता? इसीलिये न कि सईद मुसलमान है, मैं हिन्दू; मेरे पिता बड़े वकील हैं और उसके पिता एक मामूली नौकर! दुनिया से यह भेदभाव आखिर कब खतम होगा? कब हम आदमी होंगे —ऐसे आदमी जिनके मन में ऊँच नीच, छोटे बड़े का विचार ही नहीं आयेगा?

दूसरे दिन, पिता की आज्ञा के बावजूद, वह सईद के साथ गयी। वही मिन्टो पार्क, वही हरी घास, वही कोने की बेंच, और उसी तरह गले में बाहें!

रूप सईद से कह रही थी--'पता नहीं, पापा पर यह क्या खब्त सवार हो गया है। वह ऐसे तो नहीं थे! लगता है, किसी ने उनके कान भरे हैं। और यह दुनिया? ओह, कितनी विचित्र है यह दुनिया—सईद। दो दिलों का आपस में मिलना भी इससे नहीं देखा जाता। पता नहीं क्या मिल जाता है इसे दो व्यक्तियों के बीच पत्थर की दीवार खड़ी करके, जिससे उन दोनों की आवाज भी एक दूसरे के कान में न पड़ सके। मैं तो कहती हूँ—यह पूरी पाशविकता है!' रूप की वाणी वीणा की झंकार

धीरे धीरे तीव्र हो रही थी—'पापा से तो मैं साफ़ कह दूँगी कि वह उन्नीस सौ बीस में अठारहवीं शताब्दी के सपने न देखें। रूप का ब्याह सईद से होगा, ज़रूर होगा--दुनिया की कोई भी ताक़त उसे नहीं रोक सकती !'

नदी का शान्त जल, फिर धीमी धीमी लहरें, फिर उन्हीं लहरों की ऊँची ऊँची हिलोरें, उनके बाद उनके वेग की शान्ति, और पुनः वही निश्चल जल। सईद का सर रूप की गोदी में था, और रूप धीरे धीरे उसके बाल सहलाते हुए कह रही थी--'सईद, प्यार भी कितना अच्छा होता है ! मैं तो जब पुराने लोगों को अपने प्रेम में राहु बनकर पड़ते हुए देखती हूँ, तो लगता है कि इन्होंने कभी प्रेम रस का आस्वादन ही नहीं किया, नहीं तो वे ऐसी बातें थोड़े ही करते। ओफ़ ! इसी तरह अगर दुनिया का प्रत्येक व्यक्ति प्यार के संसार में डूबा रहे तो यह दुनिया स्वर्ग ही न हो जाये ! पर इसके भाग्य में यह कहाँ बदा ? यहाँ तो प्यार करना भी पाप है, किसी से हँसना खेलना भी दुनिया की आँखें नहीं देख सकतीं। पता नहीं, इन लोगों की आँखों से यह परदा कब हटेगा ?'

नदी की निश्चल धारा ने फिर करवट बदली। इस बार उसने ऊँची हिलारें ही नहीं लीं—वह एकदम समुद्री तूफ़ान के रूप में परिणत हो गयी। रूप की सरस्वती अपने पूरे वेग पर थी—'नहीं नहीं, यह नहीं हो सकता, सईद प्रिय, यह कभी नहीं हो सकता। तुमसे विछोह की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकती। मैं तुमसे ब्याह करूँगी, सिर्फ तुम्हीं से, और देखूँगी कौन हमारे

बीच में आकर अड़चन डालता है; उसको चकनाचूर कर दूँगी ! आज पापा से मेरी साफ़ बातें होंगी। आखिर उन्होंने मुझे समझ क्या लिया है ? इनसे न मिलो, उनसे न मिलो; यह न करो, वह न करो; यहाँ न जाओ; वहाँ न जाओ--मानो मैं मनुष्य नहीं, पिंजड़े में बन्द होने वाली चिड़िया हूँ। मैं अपने दकियानूसी समाज को बता देना चाहती हूँ कि अब उनका जमाना समाप्त हुआ, आज की नारी उतनी ही स्वतंत्रता चाहती है जितनी पुरुषों को है, और वह उसे लेकर छोड़ेगी ! पर सईद,' रूप की जिह्वा कुछ धीमी पड़ी, 'मैं अब तक समझ नहीं सकी कि यदि हम लोग साथ रहना चाहते हैं, तो उससे समाज का क्या नुकसान है ? आखिर यह परम्परा बनायी किसने है ? पता नहीं कितने प्रेमी हृदय इसकी चक्की में पिसकर चूर चूर हो जाते होंगे ! नहीं नहीं' —उसकी आवाज़ में कँपकँपी थी-'मैं इस चक्की में नहीं पिसूँगी; मैं इस चक्की का ही अन्त कर दूँगी, जिसने विश्व के आरम्भ से लेकर अब तक हजारों प्रेमियों को अलग किया है.....'

पर आप यह न भूलें कि जिस भूमि की कहानी मैं आपको सुना रहा हूँ, उसका नाम हिन्दुस्तान है, और हिन्दुस्तान की सन्तान में अभी इतनी शक्ति है कि वह अपनी परम्परा की रक्षा के लिये दो प्रेमी हृदयों का बलिदान कर सके। रूप भी इसी भूमि में जन्मी थी, और उसके माता पिता भी इसी सस्य श्यामला भूमि की सन्तान थे। उनमें अपने पुरखों का खून था। वे रूप को एक मुसलमान की पत्नी बनकर रहते हुए देख भी कैसे सकते थे ? पर संयोगवश पंडित हीरालाल थे नये विचारों के, इसलिये अपेक्षाकृत

उनमें सोचने समझने की बुद्धि कुछ अधिक थी। उन्होंने अपनी बुद्धि का उपयोग किया, सईद को अपने पास बुलाया, प्यार से बातें की, ऊँचे उठने का बढ़ावा दिया, रूप प्रसन्न हो गयी—कितने अच्छे हैं मेरे पापा! फिर एक दिन पंडित हीरालाल ने सईद के लिये इंग्लैन्ड के पासपोर्ट का प्रबन्ध किया, जाने का खर्च दिया, और आशा प्रकट की कि वह वहाँ से पढ़ लिखकर, बड़ा आदमी बनकर लौटेगा!

पर यह भी उनकी एक चाल थी। उनका ध्येय था—किसी प्रकार सईद को रूप से दूर कर दिया जाये। उनकी यह इच्छा पूरी हो गयी! अन्य कोई होता तो वह पाशविक बल से काम लेता, पर पंडित हीरालाल वकील थे, दुनिया घूमे थे. रुपया उनके पास था। उन्होंने जबरदस्ती नहीं की, क्योंकि वह जानते थे, जबरदस्त का ठेंगा सिर पर होता है। अबुद्ध हठ की जगह उन्होंने कौशल से काम लिया, और एक ही महीने के अन्दर सईद को रूप से हजारों मील दूर कर दिया।

कई वर्षों बाद, परम्परानुसार, रूप के दिमाग से भी सईद की छाया मिट गयी। फिर एक दिन वह दूध से नहलायी गयी, उसके हाथ पीले किये गये, और उसने पाया अपने को एक अन्य नवयुवक की पत्नी के रूप में। उसमें वे सभी विशेषताएँ थीं जो सईद में थीं। युवक सुन्दर था, पढ़ा लिखा था, और संयोगवश रूप के मन के अनुसार भी था—और इसी से रूप का उससे बन भी गयी। दोनों में काफी प्रेम था, और फल स्वरूप जल्दी ही उनके

वैवाहिक जीवन का स्मृति चिह्न भी उनकी गोदी में खेलने लगा।

इस जगह पर हमारी कहानी का पहिला अध्याय समाप्त होता है!

यह १६४६ है न? तो एक साल कमकर लीजिये--१६४८ ही रखिये। अब अपनी कहानी का जो भाग मैं आपको सुनाऊँगा, वह १६४८ का होगा, यानी पिछली कहानी के करीब बास बरस बाद का।

ऋतु बड़ी हो चुकी है। इसी अक्टूबर में उसने अपनी अठारहवीं वर्ष ग्रन्थि मनायी थी। संयोगवश कुछ साल पहिले एक मामूली बीमारी के बाद उसके पिता का देहान्त हो गया था, और अब मां ही उसकी एक मात्र संरक्षिका है! ऋतु की मां, यानी हमारी पिछली कहानी की नायिका रूप के ऊपर भी समय की छाया पड़ी है। उसके काले घुँघराले बालों की जगह अब चाँदी जैसी श्वेत राशि ने ले ली है, और अब वह बीस बरस की युवती रूप नहीं, पचास वर्ष की माँ रूप है!

तो अपनी यह कहानी भी मैं उसी तरह से शुरू करूँ—ऊपर के बाथरूम में ऋतु और उसके नीचे उसके किसी मित्र द्वारा उसका इन्तजार और.....और.....,पर नहीं, यह तो उसकी पुनरावृत्ति हो जायेगी। आपके मनोरंजन के लिये इसे कुछ दूसरी तरह से शुरू करना चाहिए!

एक दिन घर भर की डाक जब पोस्टमैन रूप के हाथों में दे गया, और उसमें ऋतु के नाम का भी एक पत्र मिला, तो वह उसे पढ़ने का लोभ संवरण न कर सकी। खोलते ही दृष्टि पड़ी—प्रियतमा ऋतु। पत्र के अन्त में किसी अमर के हस्ताक्षर थे। यह अमर कौन है ? रूप की चिन्ता बढ़ी। लखनऊ से यह पत्र आया है। अच्छा, तो यह वही पत्रकार हो सकता है, जो अक्सर मेरे यहाँ आया करता था। हाँ—हाँ, ठीक याद आया, ऋतु से उसकी अच्छी खासी जान पहिचान भी तो थी! लेकिन बात यहाँ तक पहुँच गयी है, मुझे तो मालूम ही न था। 'ऋतु, ओ ऋतु, ज़रा यहाँ तो आना' —रूप ने पुकारा।

'क्या है ममी, तुमने मुझे बुलाया है ?' —दीवार पर टँगे टेनिस रैकेट को उतारते हुए ऋतु बोली—'क्या है माँ ? अच्छा, यह आज की डाक! क्या मेरा भी कोई पत्र है ?'

'हां हां, इसी से तो बुलाया है—यह देख, तेरे नाम लखनऊ से पत्र आया है। हां, यह बता, यह अमर कौन है ? मैंने तो शायद इसका नाम नहीं सुना !'

ऋतु की दृष्टि खुले लिफाफे पर पड़ी, मां ने पत्र पढ़ लिया है! वह अमेरिका के स्वतंत्र वातावरण में शिक्षा प्राप्त कर के लौटी थी, पर तब भी उसके गालों पर हलकी लाली ने अपना स्थान बना ही लिया। जवाब तो देना ही था, बोली—'मेरा एक मित्र है ममी। तुम तो उससे मिल भी चुकी हो। अरे वही तो, जिसने तुम्हारी प्रशंसा में कई अखबारों के पन्ने भी रंगे हैं—हां हां, वही.....'

और इतना कहकर, माँ के हाथ से पत्र छीनती हुई, वह अपने कमरे में भाग गयी ।

ऋतु अपनी माँ के इतिहास को जानती थी। उसे विश्वास था कि माँ उसके ऊपर कोई भी ऐसी आज्ञा लागू नहीं करेंगी जो माँ का माँ ने उन पर की थी, या जो पुराने जमाने की हर माँ अपनी बेटियों पर लागू करती है। यदि कहा जाये कि उसके मन में इस तरह का कोई विचार ही नहीं उत्पन्न हुआ, तो भी गलती नहीं होगी; क्योंकि उसके घर का वातावरण इतना नया था कि वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकती थी !

उसी रात ऋतु ने अमर को जो पत्र लिखा, उसका शुरू का हिस्सा यों था—

'अमर, प्रिय !

आज तुम्हारा पत्र ममी के हाथ में देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ, पर बाद में पता चला कि बदमाश पोस्टमैन आज की सारी डाक उन्हीं को दे गया था। मेरे ख्याल में उन्होंने तुम्हारा पत्र पढ़ लिया है। मुझे इस बात से कोई चिन्ता नहीं है, बल्कि मैं तो प्रसन्न हूँ कि जो बात आज या कल हमलोग उनसे कहते, उसकी कल्पना उन्होंने स्वयं ही कर ली होगी। अमर, देखा तुमने मेरी ममी को ! कितनी अच्छी हैं वह। कोई पुराने जमाने की माँ होती, तो जानते हो वह क्या करती ? पर मैं नहीं बताऊँगी, किसी दुःख भरे वातावरण को अपने सामने लाऊँ ही क्यों ?.....'

पर यौवन की सीढ़ियों पर पहला कदम रखती हुई ऋतु को शायद यह नहीं मालूम था कि अठारह बरस की लड़की और पचास बरस की माँ में फर्क होता है। तब वह काले घुँघराले बालों वाली लड़की नहीं, दूध जैसे सफेद बालों वाली माँ बन जाती है; तब वह अपनी बीस बरस पहले की मनःस्थिति भूल जाती है, और उसका भी वही दृष्टिकोण हो जाता है, जिसको देखकर कभी वह खीझ उठती थी। और क्या पता, स्वयं ऋतु ही जब माँ की उमर को पहुँचे, तो.....

और रात को जब माँ बेटी बिस्तर पर लेटीं, तो दोनों के मस्तिष्क में दो विचारधाराएँ चक्कर काट रही थीं।

माँ सोच रही थी—यह बात तो बुरी हुई; मुझे क्या पता था कि मेरी आँखें बचाकर यह खेल खेले जा रहे हैं। अठारह बरस की होने को आयी ऋतु, पर लगता है, समझ नाम की किसी चीज़ ने उसके दिमाग़ में अपनी जगह नहीं बनायी। अब तो सीधे ही सीधे उससे बात करनी होगी। मैं नहीं चाहती कि मेरी लड़की इस तरह मेरी इज्ज़त धूल में मिलाती रहे।

बेटी सोच रही थी—प्रेम के संसार में रहना भी कितना सुख-प्रद होता है। अमर का साथ पाकर तो मैं अपनी सुधि ही भूल जाती हूँ—पता नहीं क्या ख़ास बात है उसमें! उसे देखती हूँ, तो लगता है, भगवान ने उसे मेरे ही लिये बनाया था! और फिर जब हम एक होंगे.....

परन्तु उसी समय उसके मस्तिष्क में मानों एक बिजली सी

कौंध जाती है। लगता है अमर उसके पास बैठा है। दोनों अभी दूर गाँव से सैर करके वापस लौटे हैं। ऋतु उससे कहती है—अमर, तुम मेरे कितने निकट हो--मैं तुम्हें कैसे बताऊँ? मैं तो आज ही ममी से अपने विवाह के बारे में बात करूँगी। वह मेरे चुनाव को सुनकर अवश्य ही प्रसन्न होंगी। है न?

अमर जवाब देता है--ठीक तो है ऋतु; पर तुम्हारी ममी इस सम्बन्ध को स्वीकार करेंगी या नहीं--मुझे इस पर सन्देह है। आज का समाज अभी इतना प्रगतिशील नहीं हुआ है कि वह गरीब और अमीर का फर्क अपने दिमाग से निकाल सके। आज की दुनिया मस्तिष्क की है--हृदय की नहीं। मस्तिष्क की रक्षा के लिये हमारा समाज हृदय को चकनाचूर कर सकता है। क्या तुम इसे नहीं मानती हो?

'हटो जी'—ऋतु कहती है, 'तुम्हें तो यही सब सूझा करता है। मेरी ममी ऐसी नहीं हैं। आखिर उन्हें हमारे सम्मिलन में क्या आपत्ति हो सकती है—जब हम स्वयं ही एक होना चाहते हैं। आखिर उन्हें क्या मिल जायेगा दो प्रेमी हृदयों के बीच गहरी खाई खोदकर?'

अमर जवाब देता है--तुम्हारे विचार ठीक नहीं हैं ऋतु, यह मैं कब कहता हूँ? मेरे सामने तो सिर्फ उस समाज की तस्वीर है, उस रूढ़ि और परम्परा का चित्र है, जिसकी चक्की में पिसकर संसार के आरंभ से लेकर अब तक न जाने कितने प्रेमी हृदय चूर चूर हो गये होंगे.....

ऋतु चौंक उठती है। उसका हृदय समाज की परम्परा से विद्रोह कर बैठता है--'नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, मेरा विवाह अमर से होगा, केवल अमर से। संसार की कोई भी शक्ति मुझे अपने निश्चय से नहीं डिगा सकती। मैं उस शक्ति का ही अन्त कर दूँगी जिसने ऐसे नियम बनाये हैं। मेरी समझ में नहीं आता, यह पाशविक परम्परा अब तक कैसे जीवित हैं ?' —वह मन ही मन बुदबुदा उठती है--'अजीब है यह दुनिया भी! दो दिल आपस में मिल सकें--यह भी इसे मान्य नहीं। काश, हम दोनों की तरह सारा संसार प्रेम की दुनियाँ में डूबा रहता! तब यह फर्क, यह अन्तर, यह ऊँच नींच का का विचार, यह गरीब अमीर का भेद, यह कुल परम्परा की खाई, यह संकीर्ण विचारधारा, यह हृदयहीन मनोवृति तो न रहती; तब लोग आदमी बनकर तो जीते। काश.....'

तब तक ऋतु सपनों के रंगीन संसार में विचरते विचरते सो चुकी थी!

'ऋतु, प्रिय ऋतु, प्रियतमा ऋतु, सर्वाधिक प्रिय ऋतु, मेरी ऋतु, ऋतु, ऋतु प्रिय--आखिर यह सब क्या है ?' अपने सामने खुले पत्रों का एक बण्डल रक्खे हुए रूप ऋतु से पूँछ रही थी। 'लगता है, तुम लोग मेरी जान खाकर ही रहोगे! अमेरिका मैंने तुम्हें इसलिए नहीं भेजा था कि यहाँ आकर इस तरह के खेल तमाशे करो।' रूप की आवाज में तैश था—'तुम्हें अपने पारिवारिक स्तर की क्या कुछ भी परवाह नहीं ? तुम क्या इस बात से बिलकुल अनजान हो कि तुम्हारा परिवार किस श्रेणी का

है, जो इस तरह राह चलते आदमियों से नाता जोड़ती चलती हो ?"

'माँ, क्या कह रही हो तुम ?' माँ के प्रति ऋतु का हृदय विद्रोह कर उठा था। उसका हृदय व्यथित था। एक ऐसी परिस्थिति से उसका सामना पड़ा था जिसकी कल्पना भी उसने कभी नहीं की थी। उसने माँ के सवालों का जवाब नहीं दिया, वह चुपचाप उठी, पत्रों का बण्डल रूप की चारपायी से उठाया, और अपने कमरे में जाकर बिस्तर पर पड़ रही।

कहानी अभी चल रही है; दुनिया भी चल रही है।

सरिता, ४६]

# मूल्यांकन

आज जब तुमने मुझसे साहित्यकार के जीवन में सम्बन्ध में सवाल पूंछे हैं, मुझे बरबस हर्ष की याद आ जाती है। हर्ष मेरा मित्र था—शायद तुमने भी उसका नाम सुना हो। हम दोनों की दाँत काटी रोटी थी। शुरू से हीं जब हम लोग हाई स्कूल में थे, वह लिखने लगा था। उसके साहित्य में कला थी, माँ की प्यार भरी थपकियाँ थीं और थी एक विप्लवी की आग्नेय हुंकार। देश में कोई भी ऐसा पत्र नहीं था जो हर्ष की रचनाएँ पाने के लिए लालायित न हो। सम्पादक-गण हर्ष की प्रशंसा में अपने पत्रों के कालम भर देते थे, उसे युग का सर्वश्रेष्ठ लेखक कहते और कहते कि उसकी जोड़ का लेखक हिन्दी-

संसार में अभी तक नहीं हुआ है। हर्ष अपनी प्रशंसा सुनता, पढ़ता, और एक सूखी हँसी हँस कर रह जाता। लक्ष्मी और सरस्वती में सदा से बैर रहा है और हर्ष इसका अपवाद न था। रूखी तारीफों से किसी आदमी का पेट नहीं भरता, पेट के लिए तो भोजन की आवश्यकता रहती है और भोजन के लिए पैसे की। मुझसे मिलता तो यही रोना रोया करता। बीबी है, दो बच्चे हैं, बूढ़ी माँ है। इन सबका खर्च वह कैसे चलाये? किसी पत्र ने दो चार रुपये दिये भी, तो महीनों तकाजे के बाद। मुझसे कहता— भाई, मेरा तो जी चाहता है कि आत्महत्या कर लूँ। अपने जीवन से ऊब गया हूँ, पर करूँ क्या? फूल से कोमल बच्चों और सर्वस्व अर्पण करने वाली पत्नी का मुँह देखकर साहस जवाब दे देता है।

कभी कभी वह मुझसे कहता, 'साहित्यिक का जीवन तपस्या का जलता हुआ हवनकुंड है। जितनी कठिनाइयों का, जीवन की जितनी विषम परिस्थितियों का सामना साहित्यिक को करना पड़ता है, उतना अन्य किसी वर्ग को नहीं। जीवन की वास्तविक स्थितियों से प्रस्फुटित एक साहित्यिक के व्यक्तित्व को आम जनता उतना भी समादर नहीं देती जितना एक साधारण मजदूर को। एक मजदूर दिन भर में दोनों जून खाने भर को चार पैसे कमा लेता है, पर जीवन की अनन्य साधना में विलीन एक साहित्यकार? उसकी मेहनत का मूल्य क्या? खाने और कपड़े के अभाव में तड़प तड़प कर मर जाना।'

ऐसी ही उसकी मेरी बातें होती रहतीं। वह मुझसे बहुत

खुल गया था। अपने सुख दुख की समस्त बातें वह मुझसे बिना संकोच बता दिया करता था। मुझे उसकी दशा पर तरस आता। पर करता क्या? अपने पास इतना पैसा नहीं था कि उसकी आर्थिक सहायता कर पाता। मुझे रोष होता पुस्तक-प्रकाशकों पर। अब तक हर्ष की चार पाँच पुस्तकें निकल चुकी थीं और उनकी बिक्री धड़ाधड़ हो रही थी। कुछ के तो तीन-तीन, चार-चार संस्करण भी हो चुके थे। उन पुस्तकों की समालोचना छाप कर भी कुछ प्रकाशक मालामाल हो गये थे। पर उनके नाम पर हर्ष को क्या मिला—एक बार पचास या सौ रुपये।

मैंने उससे बहुत कहा-कहीं नौकरी कर लो, पर वह न मानता। कहता—'जानते हो, मैं तपस्या कर रहा हूँ। तपस्या में अगणित समस्याएँ सामने आती हैं, पर असली तपस्वी वही है, जो न विपत्तियों से घबड़ाये, न हर्ष से उद्वेलित हो।' मैं क्या कहूँ, मुस्करा कर रह जाता। मुझे उसकी बातों पर हँसी आती। कुछ बातें करने का ढंग ही उसका ऐसा था। लोग उसे अर्द्ध-विक्षिप्त कहते थे, और वह भी अपने को कुछ ऐसा ही समझता था।

एक दिन की बात है। मैं और हर्ष शाम को चाय पी रहे थे। दैनिक उषानाद का सायं संस्करण मेज पर पड़ा था। सहसा उसकी सम्पादकीय टिप्पणी पर ध्यान बरबस आकर्षित हो गया। मोटे मोटे हरूफों में लिखा था,—'हर्ष के नाम पर भीख।' नीचे जो लिखा था उसका सारांश था—लखनऊ की सड़कों पर कुछ व्यक्ति प्रसिद्ध साहित्यकार श्री हर्ष के नाम पर जनता से चन्दा वसूल कर रहे हैं। यह स्मरणीय है कि हर्ष जी की आर्थिक

अवस्था आजकल बहुत ही शोचनीय है और अगर कुछ ही दिनों में उन्हें दोनों समय खाने भर का प्रबन्ध न हो गया तो निश्चय ही वे कालग्रस्त हो जायेंगे। पर हमारे विचार में सम्भवतः इस चन्दे की स्वयं हर्ष जी को भी खबर नहीं है और उनके नाम कुछ स्वार्थी लोग अवसर से लाभ उठाना चाहते हैं। उनका आत्मगौरव भीख माँगने पर नहीं प्रस्तुत हो सकता, इसका हमें पूर्ण विश्वास है, और इसी से संदेह करने का साहस हमें उत्पन्न हुआ। इस टिप्पणी द्वारा हम हर्ष जी का ध्यान इस ओर खींचना चाहते हैं और भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे उनके संकट शीघ्र ही दूर करें।

मैंने हर्ष को यह खबर सुनायी। वह भौचक्का रह गया। पूँछने पर मालूम हुआ, उसे सचमुच इस चन्दे के सम्बन्ध में कुछ नहीं मालूम। मुझे उसकी बात पर आश्चर्य हुआ। भगवान् के नाम पर उसके भक्तगण माँग कर स्वयं अपना पेट भरें! मुझसे नहीं रहा गया। मैंने हर्ष से कहा कि इस घटना का पूरा पता लगा कर जनता को सूचित कर दो कि तुमसे और चन्दे से कुछ सम्बन्ध नहीं। वह हँसा, बोला, 'भाई, यदि मेरे नाम के कारण कुछ आदमियों का पेट भरता है, तो मैं क्यों उनके बीच पड़ कर राहु बनूँ। मुझे क्या करना है उनका एकत्रित चन्दा लेकर? जैसे हूँ खुश हूँ। ईश्वर की इच्छा के सामने क्या हो सकता है! वह यही चाहता होगा। जब देना होगा वह छप्पर फाड़ कर देगा, अपने को चिन्ता में डालकर एक कठिनाई और क्यों सर पर लूँ?'

अब मुझे उसके पागल होने में सन्देह न रहा। मैं उन दिनों बैरिस्टरी पास कर अपने नगर में प्रैक्टिस भी करने लगा था। ईश्वर की कृपा से वह चल भी अच्छी निकली थी। महीने में चार पाँच सौ का डौल हो जाता था। मैंने सोचा, हर्ष को भी अपने यहाँ बुला लूँ। उसकी माँ की मृत्यु हो चुकी थी। पति पत्नी और दो लड़के शेष थे। मैंने उसे अपनी योजना बतायी। वह राजी नहीं हुआ। घरवालों ने भी समझाया, पर वह अपनी बात पर अटल रहा। किसी दूसरे की रोटी खाना उसके आत्म-सम्मान ने गवारा नहीं किया।

इन्हीं दिनों उसकी बातों से मुझे कुछ ऐसा लगा कि उसने अपने पुराने निश्चय को त्याग दिया है और अब वह कहीं नौकरी करना चाहता है। संयोग से नगर के एक हिन्दी दैनिक के सम्पादक मेरी जान पहचान के थे। उनके पत्र के लिये एक सहायक सम्पादक की आवश्यकता थी। वेतन पचास रुपया था। मैंने उनसे हर्ष के सम्बन्ध में कहा। हर्ष ऐसे सुविख्यात साहित्यकार को वे पचास रुपये पर रखने को तैयार नहीं थे, पर उनके पत्र की आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी और इसलिये मजबूरी थी। अन्त में कहने सुनने पर संकोच के साथ वे तैयार हो गये। हर्ष को मैंने वहाँ रखवा दिया। उसे नौकरी दिलवा कर मेरे ऊपर चिन्ता का जो एक बोझ था, वह उतर गया। मैंने समझा मैंने अपना कर्त्तव्य किया, अब हर्ष जाने और उसका काम।

इसके बहुत दिनों बाद तक हम दोनों में भेंट नहीं हुई। मैं

अपनी बैरिस्टरी चमकाने में जी जान से लगा था। मेरी पत्नी अणिमा को साहित्यिक पुस्तकें अवलोकन करने का शौक था। तरह तरह की पुस्तकें वह मँगाया करती थी। एक दिन मैंने हर्ष की एक किताब उसके हाथों में देखी। वह उसे पढ़ने में इतना तल्लीन थी कि उसके आसपास क्या हो रहा है, इसकी भी उसे खबर नहीं थी।

मैंने देखा, पुस्तक की कुछ खास पंक्तियों पर वह निशान भी बनाती जाती थी। पुस्तक-लेखक के स्थान पर हर्ष का नाम देखकर मुझे पुरानी स्मृतियाँ याद हो आयीं। एक युग के बाद मुझे हर्ष की याद आयी। रात को जब हम लोग खाने बैठे तो मैंने अणिमा से कहा कि हर्ष को मैं जानता हूँ। यह सुनते ही उसे जैसे एक निधि सी मिल गयी। उसे मैंने हर्ष के बारे में शुरू से आखीर तक पूरी कथा बतायी। उसे यह सुनकर बहुत प्रसन्नता हुई कि हर्ष से मेरी बहुत घनिष्ठता है और हम दोनों साथ ही साथ पढ़े भी हैं। उसने मुझे उलाहना भी दिया—'ऐसा श्रेष्ठ मित्ररत्न पाकर भी तुम उसे भूल जाते हो, यह तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टि का परिचायक नहीं।' मैंने गलती महसूस की। मुझे हर्ष की चिन्ता ने फिर घेर लिया। मैंने सोचा, उसके दफ्तर में टेलीफोन कर उसे बुला लूँ। पर फिर ख्याल आया, हो सकता है उसने नौकरी छोड़ दी हो। और हुआ भी यही। जब मैंने टेलीफोन किया तो पता चला कि वह तो नौकर होने के कुछ ही महीनों बाद वह जगह छोड़ किसी अन्य जगह चला गया। मुझे दुःख हुआ। अपने ऊपर ग्लानि हुई। रह रह कर मेरे कानों में पत्नी के शब्द गूँजने

लगे–'ऐसा श्रेष्ठ मित्ररत्न पाकर भी तुम उसे भूल जाते हो, यह तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टि का परिचायक नहीं !'

हर्ष को ढूँढने के प्रयत्न में मैं अभी लगा ही हुआ था कि एक दिन वह मुझे बाज़ार में मिल गया। पहिचाना नहीं जाता था। कपड़े तार तार हो गये थे, आँखें गढ़ों में धँसी जा रही थीं, मुख की कान्ति विलीन हो चुकी थी। मैंने उसे पुकारा। उसने चौंक कर मेरी ओर देखा। हम दोनों में उस दिन लगभग पाँच वर्ष बाद भेंट हुई थी ! मुझे देख उसकी आँखों में आँसू निकल आये। बोला--भैया, क्या मुझे भूले नहीं हो अभी ? मैं क्या जवाब देता ? सच बात तो यह थी कि उसे मैं सचमुच ही भूल गया था। उसे घर लाया। नहा धो, खा पीकर जब वह स्थिर होकर बैठा तो मैंने उसका हालचाल पूँछना शुरू किया। स्थानीय दैनिक की नौकरी छोड़ने के बाद वह कलकत्ते चला गया था। वहाँ वह एक छोटी मोटी मासिक पत्रिका का सम्पादक था। बंगाल का अकाल, कलकत्ते पर जापानियों की बमबाज़ी, सब उसकी आँखो देखी चीजें हैं। अकाल में ही उसने स्त्री पुत्र खो दिये। हर्ष ने कहा: 'भैया, वह दृश्य भूलने वाला नहीं है। अनगिनत प्राणी फुटपाथों पर पड़े खाना खाना चिल्लाया करते थे। बदन पर हड्डियाँ ही हड्डियाँ दिखायी पड़ती थीं। लाखों प्राणियों का होम हुआ है उस ज्वाला में। एक एक चावल के लिये हजारों हड्डी की ठठरियाँ दौड़ पड़ती थीं। ओह ! तुम वहाँ होते तो जानते कि एक एक दाने की कीमत क्या होती है ! सुनने से वह अनुभव नहीं हो सकता। मैंने तो यह सब अपनी आँखों से गुजरते

हुए देखा है। इन्हीं आँखों से मैंने अपने स्त्री बच्चों को भूख की तड़पन से मरते हुए देखा है। उन नर पिशाचों को भी देखा जिन्होंने बोरे के बोरे चावल अपनी कोठियों में भर रक्खे थे और बंगाल सरकार के हाथ बेच बेच कर करोड़पति हो गये थे। उन्हें भी देखा है जो भूखों के नाम पर पैसा वसूल कर अपनी तिजोरियाँ भरते थे। क्या कहूँ तुमसे, जब वे दृश्य मेरी आँखों के सामने आते हैं तो मैं तड़प उठता हूँ। मेरी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं कि और जी चाहने लगता है कि उन थैली शाहों को कच्चा ही भून कर चबा जाऊँ!

मैं उसे उत्तेजित होने से रोके रहता। अब वह मेरे ही यहाँ रहता था। अणिमा से उसका काफी परिचय हो गया था। अणिमा उसे अच्छी अच्छी चीजें बनाकर खिलाया करती थी। वह अणिमा का आदर करता था। अणिमा भी हर्ष से काफी हिल-मिल गयी थी। जब हम लोग बैठते, साहित्य चर्चा चलती। मुझे सचमुच हर्ष का व्यापक ज्ञान देख कर आश्चर्य होता। इसके पहले कभी मुझे इसका अनुभव नहीं हुआ था। उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी।

हर्ष ने इन्हीं दिनों एक नयी किताब लिखनी शुरू कर दी थी। उसका कहना था कि वह पुस्तक उसकी सबसे महत्वपूर्ण कृति होगी। उसमें उसने अपना निजी जीवन अंकित करने का निश्चय किया था, एक उपन्यास के रूप में। उन दिनों वह दिन रात उसी पुस्तक में रत रहता। मुझसे उससे दिन भर में अधिक से अधिक रात को खाते समय भेंट होती। मुझे लगा, अब वह कुछ

उदास सा रहता है। इसका कारण मैंने उससे दो तीन बार पूँछने का प्रयत्न किया भी, पर वह सदा हँसी में टाल गया। अधिक पूँछ कर उसकी एकान्त साधना में विघ्न डालने की मेरी हिम्मत न पड़ी। मेरी धारणा से अणिमा भी सहमत थी; उससे भी हर्ष का साक्षात्कार अब बहुत कम होता था, और जैसा कि अणिमा ने कहा, उन दिनों वह उसने भागा भागा सा रहता था। हम लोगों ने सोचा, शायद वह अपनी कला की उपासना में तल्लीन हो, इसी से उसे हम लोगों से मिलने का अवकाश न मिलता हो। अस्तु, मैंने उससे इस सम्बन्ध में एक दो बार से अधिक कभी भी नहीं पूँछा।

हर्ष ने अपनी पाँच सौ पृष्ठों की पुस्तक खत्म करने में डेढ़ दो महीने से अधिक नहीं लगाया। जब पुस्तक पूरी हो गयी, उसने मुझसे उसे देखने का आग्रह किया और मैंने वह पुस्तक अपने पास रख ली। सचमुच में तो मुझे पुस्तकें पढ़ने के लिये एक क्षण का भी अवकाश न मिलता था। हाँ, कभी कभी अंग्रेजी दैनिक पत्रों पर एक सरसरी दृष्टि डाल लिया करता था। हर्ष से मैंने वादा किया था कि पुस्तक अवश्य पढ़ूंगा और यदि उसमें कोई सुधार करने होंगे तो बताऊँगा। एक-एक दिन करते करते छः मास का लम्बा समय व्यतीत हो गया। हर्ष मुझसे रोज ही तकाजा किया करता था। अन्त में वह पुस्तक उसे मैंने बिना पढ़े ही वापस कर दी, यह कह कर कि मुझे छुट्टी नहीं मिलती। मेरे इस उत्तर से हर्ष को एक ठेस सी लगी। वह मुझसे बहुत प्रेम करता था। मुझे लगा जैसे मेरे इस उत्तर ने उसके हृदय में मानसिक आघात पहुँचाया है।

दिन व्यतीत होते गये। मैं अपने पेशे में जुटा रहता और हर्ष अपनी पुस्तकों में। उसकी रुचि अब आध्यात्मिक साहित्य की ओर हो गयी थी। मेरी प्रैक्टिस भी अब तक अपनी सीमा रेखा तक पहुँच चुकी थी और दम मारने का भी अवकाश मुझे कठिनाई से प्राप्त होता था। घर बाहर की भी मुझे याद नहीं रहती। हर्ष ने मुझसे एक दो बार कहा कि 'भैया, इतनी मेहनत न किया करो, तन्दुरुस्ती बिगड़ जायेगी,' पर मैं तो अपने ही रंग में सराबोर था। उसके अनुरोध पर मैंने कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

समय बीतते देर नहीं लगती। उस दिन बसन्त का त्योहार था। हम लोगों का प्रोग्राम बन गया था। अणिमा की राय थी कि उस दिन कहीं पिकनिक पर चला जाय। एक दिन पहले इस सम्बन्ध में जब मैंने हर्ष से पूछा था, तो उसने कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया था। पर वह अनुरोध अणिमा का था, मेरे लिये उसको टालना मुश्किल था। बहुत कठिनाइयों से वह दिन मैं अपने लिये बचा पाया था। दूसरे दिन सुबह ही मैं हर्ष के कमरे की ओर गया। दरवाजा खुला था और हर्ष का कहीं पता नहीं था। सोचा, मुझसे पहले उठकर नित्य कर्म करने चला गया होगा। मैं अपने कमरे की ओर लौट आया। कुछ देर बाद अणिमा ने आकर कहा-'हर्ष तो है ही नहीं, मैंने सब जगह ढूँढ़ डाला है। उसके कमरे में केवल एक यह पत्र मिला है',-यह कह कर उसने पत्र मेरे हाथों में पकड़ा दिया।

खत लेते समय मेरे हाथ काँप रहे थे। काँपते हाथों मैंने

उसे पढ़ा। क्या सचमुच हर्ष चला गया? मुझे तो पत्र पर विश्वास नहीं आया। पर पत्र स्वयं गवाही दे रहा था, हर्ष चला गया है। वैसे तो मुझे स्वप्न में भी यह विचार नहीं आ सकता था कि हर्ष मेरे पास से जा सकता है। एक साँस में पूरा पत्र पढ़ लिया गया। जो कुछ उसमें लिखा था वह ज्यों का त्यों यों है:—

भैय्या सुनील,

मुझे घर पर न देखकर तुम्हें दुःख होगा। अणिमा बहिन भी दुःखी होंगी। पर क्या करूँ। मेरी अन्तरात्मा मुझे जो आदेश दे रही है उसे अस्वीकार कैसे करूँ? तुम्हारे साथ रहने का सौभाग्य मुझे इतने ही दिनों के लिये था।

अपनी पुस्तक छोड़े जा रहा हूँ। उसे मैंने खास तौर से अणिमा बहिन के लिये ही लिखा था। पुस्तक मेरी ओर से उन्हीं को भेंट कर देना, वह जैसे चाहें इसका उपयोग करें।

और क्या लिखूँ? तुम्हारे पास से मैं किसी विशेष कारण-वश नहीं जा रहा हूँ। अणिमा बहिन ने हर तरह आराम दिया, और मुझे चाहिए ही क्या था! परन्तु एक अज्ञात शक्ति मुझे अपनी ओर खींच रही है, अतः विवश हूँ। मैं आरामतलबी के जीवन से ऊब गया हूँ, अब मजदूरों का, गरीब किसानों और भिखमंगों का अध्ययन करना चाहता हूँ। उन्हीं के साथ अब रहूँगा, उन्हीं के साथ मरूँगा, उनके बीच रहकर उन्हें समझूँगा, और तब मेरी जो पुस्तक होगी असली पुस्तक होगी।

मुझे मालूम है, यदि मैं तुमसे इस सम्बन्ध में परामर्श लेता तो तुम मुझे जाने न देते, अतः मैंने दूसरा रास्ता अपनाया। मेरी चिन्ता न करना। जहाँ रहूँगा, सानन्द रहूँगा। मैं असली साहित्यिक बनना चाहता हूँ, उसके लिये मुझे आशीर्वाद दो।

अणिमा बहिन को तो मेरा प्रणाम सदैव है। जिस उल्लास एवं उत्साह के साथ उन्होंने मेरी सेवा की है, उसे मैं आजन्म नहीं भूल सकता।

तुम्हारा-

हर्ष।

पत्र पढ़कर अणिमा रुआसी सी हो गयी। उसकी अमूल्य निधि खो गयी थी न? मुझे याद हो आया वह दिन जब मैंने अणिमा को पहिले पहिल हर्ष का परिचय दिया था। तब वह कितनी प्रसन्न हुई थी। और आज.....

फिर एक दिन एक मित्र से पता चला कि हर्ष की मृत्यु हो गयी है। वह दिल्ली के भंगियों के मुहल्ले में रहने गया था। वहाँ की जलवायु उसके लिए अहितकर सिद्ध हुई। पर उसने तो उसी मुहल्ले में रहने की प्रतिज्ञा सी करली थी। वह वहाँ से दूसरी जगह नहीं गया। उसकी तबियत खराब रहने लगी और इतना पैसा पास नहीं था कि दवा कर सके। कुछ ही महीने बाद वह मर गया।

समाचार पत्रों ने उसके मरने का समाचार मोटे अक्षरों में

छापा। जगह जगह शोक सभाएँ हुईं और साहित्य के अधिकारी विद्वानों ने उसे अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। हर्ष-स्मारक कोष भी खोला गया। बड़े बड़े सेठ साहूकारों ने उसमें पुष्कल धन भेंट कर भावी इतिहास में अपना नाम सुरक्षित किया।

अब हर्ष-स्मारक के अन्तर्गत बहुत से विभाग काम कर रहे हैं। विश्व हर्ष को देवता की भाँति पूजता है। पर जब जीते जी देवता का पेट नहीं भरा तो मरने के बाद खाना देने से क्या लाभ ?

और मैं सोचता हूँ, क्या यही साहित्यकार के जीवन का मूल्यांकन है !

आजकल, ४६]

# चुनाव

प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष पंडित कमलापति मिश्र के सम्बन्ध में यह लोकप्रसिद्धि थी कि उनका सम्पूर्ण परिवार ही नेता जाति का है। प्रान्त के आधे से अधिक नेता या तो उनके सम्बन्धी थे, या शिष्य। स्वयं घर में, बड़ा लड़का रमेश देश के एक बहुत बड़े नेता का निजी सचिव था, छोटा पुत्र अविनाश प्रान्तीय मजदूर संघ का संचालक; दामाद शेखर भी अपने क्षेत्र का एक सर्वमान्य नेता था, छोटी पुत्री अणिमा, जो अभी तक अविवाहित थी, प्रान्त के छात्र आन्दोलन की प्रमुख कार्यकर्त्री थी और कई बार जेल भी हो आयी थी, स्वयं प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे ही, पत्नी भी स्थानीय महिला मंडल की नेत्रियों में थीं; यहां तक कि सात वर्ष का पोता आलोक भी हाथ में तिरंगा झंडा लिये अपने घर के आस-

पास के लड़कों का नेतृत्व करता हुआ जब बाहर निकलता था तो किसी नेता से कम नहीं मालूम होता था। लोग कहते हैं, कमलापति के परिवार ने नेतृत्व पर अपना जैसे मौरूसी हक समझ लिया था और नगर की राजनीति में उन्हीं का एकछत्र साम्राज्य बन गया था। कहीं कोई मीटिंग हुई, पंडितजी से प्रार्थना की गयी; आप सभापतित्व कर दीजिए। किसी प्रदर्शिनी का उद्घाटन कराना हुआ तो श्रीमती कमलापति के हाथ पाँव जोड़े गये। हड़ताल और जलूसों का भार तो छोटे पुत्र ने अपने जिम्मे ले ही लिया था, बड़ा पुत्र भी जब कभी घर आता तो नगर के कार्यकर्त्तागण उससे वैसे ही मिलने आते जैसे बड़े लाट से मिलने डिप्टी कमिश्नर आते हैं। सभी लोग उसकी चापलूसी में लगे रहते, कमलापति के घर में पूरा दरबार लग जाता। कोई कहता–नेताजी को एक बार अपने नगर में भी बुलाइए, कोई कहता–उनसे मेरी जान पहिचान करा दीजिए। प्रान्त के छात्र आन्दोलन की राजनीति संचालन में तो अणिमा का बहुत बड़ा हाथ था ही। इस बार वह प्रान्तीय छात्र संघ की सभानेत्री चुनी जाने वाली थी।

वर्षों के अथक परिश्रम के बाद सन् १९४६ में जब भारत अपने लक्ष्य की सीमा रेखा तक पहुँच गया और निष्ठुर ब्रिटिश सत्ता भी कांग्रेस के प्रताप का लोहा मान कर हमारे नेताओं से समझौते की बातचीत चलाने पर विवश हुई, तो युगों से सोये हुए निष्प्राण भारतवासियों में भी एक नयी शक्ति का संचार हुआ। सरकार ने प्रान्तों में गवर्नरी शासन के अन्त की घोषणा की। नये निर्वाचनों की जोरदार तैयारियां होने लगीं, कांग्रेस का मन्त्र घर घर फूँका

जाने लगा। पंडित कमलापति जहां जेल जाने और पुलिस की लाठियाँ खाने में सदा अग्रसर रहते थे, यहाँ भी पीछे न रहे। सुबह होते ही मोटर पर आसपास के गावों के लिये निकल पड़ते, दिन भर बीसियों सभाओं में व्याख्यान देते और अँधेरा होते होते घर वापस लौटते। खानेपीने की चिन्ता तक नहीं रहती, अक्सर तो ऐसा होता कि वे रास्ते में ही फल फूल जो कुछ मिल जाता खा लेते। महीना समाप्त होते होते वे ग्रामीणों के मध्य भी उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गये जिस प्रकार नगर की राजनीति में थे। पंडित कमलापति का नाम घर घर लिया जाने लगा, उनकी जय के नारों से आकाश गूंजने लगे।

परन्तु लोकप्रियता के साथ साथ शत्रु भी बढ़ते हैं और वे सदा अपने प्रतिद्वन्द्वी को हार दिखाने के प्रयत्न में ही लगे रहते हैं, यह मानी हुई बात है। प्रान्त की आन्तरिक राजनीति का भी यही हाल हुआ। पहिले भी पंडित कमलापति की बढ़ती हुई जनप्रियता को देखकर उनके प्रतिद्वन्द्वी कसक उठते थे, और अब तो उन्हें पंडितजी से मोर्चा लेने का मनचाहा मौका मिला। कहने को तो राजनीतिक संस्थाएँ अपना संगठन दृढ़ कर रही थीं, पर अन्दर ही अन्दर उनमें नये नये दल तैयार हो रहे थे। इधर जब सरकार ने कांग्रेस के ऊपर से प्रतिबन्ध उठा लिया तो वे व्यक्ति भी जो सदा गांधीजी और कांग्रेस को गालियाँ देते न थकते थे, कांग्रेस में आ गये। ऐसे प्रतिक्रियावादी व्यक्तियों को पंडित कमलापति से शुरू से ही चिढ़ थी, अतः वे भी आकर उनके विरोधी दल में मिल गये और पंडितजी के खिलाफ प्रचार शुरू कर दिया।

पंडित कमलापति सीधे सादे राजनीतिज्ञ थे, अतः इन बातों को

समझते हुए भी वे चुप ही रहे । उनका विरोधी दल अपनी लोकप्रियता बढ़ाने में पूर्ण रूप से संलग्न था, अतः प्रान्तीय विधानसभाओं के लिये उम्मीदवार चुनने के लिये कांग्रेस ने जब अपना चुनाव बोर्ड बनाया तो उसमें विरोधी दल के व्यक्ति ही अधिक संख्या में आये। पंडित कमलापति और उनके दोनों पुत्र तो पहिले से ही धारा सभा के सदस्य थे और उनके विरुद्ध कोई आरोप भी नहीं लगाये गये थे, अतः उन्हें तो चुनाव बोर्ड को कांग्रेस उम्मीदवार बनाना ही पड़ता, परन्तु बोर्ड के विरोधी सदस्यों ने यह भी निश्चय कर लिया था कि इस बार पंडितजी के किसी अन्य सम्बन्धी को धारासभा में नहीं आने देंगे, चाहे कुछ हो जाये ।

इधर पंडित कमलापति को आशा थी कि इस बार शेखर भी धारासभा की सदस्यता के लिए चुन लिया जायेगा, क्योंकि उसने १९४२ के आन्दोलन में बहुत अधिक काम किया था । शेखर एवं उसके अन्य सहयोगियों को भी यही आशा थी, परन्तु जब पता चला कि चुनाव बोर्ड ने उसे नहीं चुना है तो स्वयं पंडितजी ने भी एक बार खुद बोर्ड के सदस्यों से मिलने का निश्चय किया । उसके अधिकांश सदस्य विरोधी दल के ही थे, अतः पंडितजी को कोई आशा नहीं थी; तब भी उनके मित्रों ने उन्हें एक बार चुनाव बोर्ड के सदस्यों से मिलने के लिये बाध्य कर दिया ।

बोर्ड के अध्यक्ष महाशय गुरुप्रकाश पंडितजी के पुराने मुलाकाती थे, पर इधर कुछ दिनों से दोनों में अनबन हो गयी थी; तब भी पंडितजी के पहुँचने पर गुरुप्रकाश ने उठकर उनका स्वागत किया । वे यह तो समझ ही गये थे कि पंडितजी किस काम से

यहाँ आये हैं, पर चुप ही रहे। कुछ देर तक इधर उधर की बात चीत होती रही, अन्त में पंडितजी ने ही काम की बात छेड़ी। बोले—कहिए गुरुप्रकाशजी, आपके चुनाव का काम अभी समाप्त हुआ या नहीं ?

गुरुप्रकाश ने कहा—अभी तो नहीं पंडितजी, पर आप लोग तो चुन ही लिये जायेंगे, इसका आप विश्वास रक्खें।

"चीनाबाजार निर्वाचन क्षेत्र से आपने किसे खड़ा करने को सोचा है,"—पंडितजी ने बात बढ़ायी।

"अभी तो मामला विचाराधीन है, कुछ तय नहीं हुआ कि वहाँ से किसे खड़ा किया जाये। क्यों, आप की क्या राय है ?" अध्यक्ष महोदय ने पूँछा।

पंडितजी बोले—पंडित शेखरसरन जी को क्यों नहीं खड़ा कर देते ?

जानते हुए भी अध्यक्ष महोदय अनजान बने–कौन शेखरसरन ?

"अरे पंडित शेखरसरन जी, चीनाबाजार को जिला कांग्रेस के प्रधान। '४२ में तो प्रान्तीय डिक्टेटर भी रह चुके हैं। आश्चर्य है आप नहीं जानते !" —पंडितजी ने कहा।

"वह तो शायद आपके कोई सम्बन्धी भी हैं ?" गुरुप्रकाश ने पूँछा।

"हाँ, मेरी बड़ी पुत्री सुषमा के पति हैं। बड़े ही कार्य कुशल और कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। असेम्बली में उनके रहने से आपको

बहुत सहायता मिलेगी।" पंडित कमलापति ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया।

गुरुप्रकाश ने अब साफ साफ बात करना अधिक ठीक समझा। बोले—सच बात पंडितजी यह है कि एक ही परिवार के इतने अधिक व्यक्तियों को ले लेने से कांग्रेस की प्रतिष्ठा खो जाने का भय है। शेखरसरन जी से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ और यह मैं मानता हूँ कि असेम्बली की सदस्यता के लिये वे एक योग्य व्यक्ति हैं, परन्तु जनता का मुँह भी तो बंद नहीं किया जा सकता। लोग तो यही कहेंगे कि शेखरसरन पंडित कमलापति मिश्र के सम्बन्धी थे इससे ले लिये गये।

"खैर, जैसी आप लोगों की मर्जी। पर तब भी आपने उस निर्वाचन क्षेत्र से किसे खड़ा करना निश्चय किया है?"—पंडित जी ने प्रश्न किया।

"मैंने बताया न पंडित जी, अभी तो कुछ निश्चित नहीं है, पर लोगों का ऐसा विचार है कि वहाँ से रजनीकान्त को खड़ा किया जाये।" उत्तर मिला।

"कौन रजनीकान्त? वह प्रजा पार्टी वाला तो नहीं?"

"जी हाँ, वही। बड़ा ही मेधावी कार्यकर्त्ता है।"

"पर उसकी उम्र तो अभी कुछ अधिक नहीं, यही पच्चीस छब्बीस की होगी। इस जगह के लिये आपको किसी अनुभवी व्यक्ति को खड़ा करना चाहिए था," पंडित जी बोले।

"उम्र से क्या होता है कमलापति जी" गुरुप्रकाश ने कहा,

"वहाँ के गावों पर उसका बहुत प्रभाव है। एक वोट भी अलग नहीं जायेगा।"

"तो ठीक है, कोई हर्ज नहीं। हमें तो आज नवयुवक कार्य-कर्त्ताओं की ही बहुत आवश्यकता है। आपके चुनाव पर मैं कांग्रेस को बधाई देता हूँ," कुरसी से उठते हुए पंडित कमलापति ने कहा।

गुरुप्रकाश भी अपनी जगह से उठकर हँसने की कोशिश करते हुए बोले—"इसमें मैं बधाई का पात्र नहीं पंडित जी, यह सब आप लोगों की कृपा है!" फिर मुँह गम्भीर बनाते हुए कहा—"क्या बताऊँ पंडितजी, शेखरसरन जी आ जाते तो मुझे बड़ी खुशी होती, पर कहनेवालों को क्या कहूँ? मुझे खुद बहुत दुःख है।"

तभी पंडित कमलापति ने बात काटी—खैर, कोई बात नहीं है गुरुप्रकाश जी। अभी तो कौंसिल का चुनाव भी बाकी है!

"हाँ हाँ," गुरुप्रकाश बोले, "वह तो और भी अच्छा है। मैं अपनी ओर से पूरी कोशिश करूँगा कि उसमें शेखरजी आ जायें।"—और विजय गर्व से मुस्करा उठे।

धन्यवाद की मुद्रा बनाते हुए कमलापति ने जवाब दिया—जी हाँ, प्रयत्न कीजिएगा। और यह तो अच्छा ही हुआ कि आपने रजनीकान्त को चीनाबाजार से खड़ा करने को चुना। अब तो वह भी अपने ही परिवार में आने वाला है। उसने और अणिमा ने कल ही मुझे अपने प्रेम की सूचना दी है और शीघ्र ही उनका विवाह हो जायेगा। आपको भी निमन्त्रण देता हूँ, देखिए, आना

भूलिएगा नहीं। —और चल दिये।

गुरुप्रकाश सोच रहे थे—विजय किसकी हुई, मेरी या कमलापति की ?

# खरबूजे

चिन्तौरा रोड के जिस मकान में आजकल मैं रहता हूँ उसके आस-पास अधिकतर मास्टरों की बस्ती है। शहर का स्कूल इस स्थान से कुछ नजदीक पड़ता है, इसलिये स्कूल के दयाशील व्यवस्थापकों ने इस मुहल्ले में मास्टरों के लिये कुछ खास क्वार्टर्स बनवा दिये हैं, उसी तरह जैसे लखनऊ के मूडी स्क्वायर ( अब विजय-नगर ) में आप को एक सिरे से दूसरे सिरे तक सेक्रेटेरियट के सेवकों के बँगले मिलेंगे। मास्टरी पेशा वालों को लोग भूमंडल के सबसे सीधे जीव की प्रतिमूर्त्ति कहते हैं; पर तो भी यह मुहल्ला अन्य मुहल्लों से कहीं अधिक गुलजार रहता है। दिनभर के एक छत्र शासन के बाद जब अवकाश मिलता है, इन लोगों की बैठक लगती है। ऐसी बैठकें अधिकतर खाने पीने के बाद शुरू होती

हैं और रात ग्यारह बारह से पहिले नहीं समाप्त होतीं। मुझे भी कभी कभी इन बैठकों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, और उन्हीं में से एक का पूरा विवरण आज मैं आप लोगों के सामने उपस्थित करता हूँ।

दिन शनिवार, तारीख १३, महीना अक्टूबर और सन् १९४५; समय वही रोज वाला समझ लीजिए, यानी रात को करीब आठ बजे या दो चार मिनट इधर उधर। स्कूल के प्रमुख अध्यापक, श्री राममनोहर सक्सेना का बैठका।

इन सक्सेना जी के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह दूँ। आपको बागबानी का व्यसन है, जब देखिएगा हाथ में खुरपा लिये मिलेंगे। चाय दिन में सात दफे पीते हैं। लखनऊ के निवासी हैं, सीतापुर में जमीन्दारी है। खानेपीने के मामले में, लखनवी तहजीब के अनुसार, कोई कोर कसर नहीं उठा रखते। ऐसा दिन तो शायद ही कोई जाता होगा जब यार दोस्त उनके दरवाजे से मुँह बिना नमकीन किये वापस लौटे हों। परिवार साधारण है। सूर्य, जिसका अपभ्रंश सुरिया हो गया है, और मुनान, दो पुत्र भी हैं।

तो बैठक शुरू हो गयी है। उपस्थिति आज कुछ कम है। कुछ प्रमुख व्यक्तियों के नाम—कर्मराज चौधरी, धर्मात्माराम वैश्य, श्यामनरेश त्रिपाठी, मौलवी मजाहिर हुसैन। सभी स्कूल के अध्यापक हैं।

पंडित श्यामनरेश ने कर्मराज चौधरी को सम्बोधित करते हुए कहा—कहिए चौधरी साहब, क्या हाल चाल हैं?

चौधरी साहब अध्यापक के साथ साथ स्कूल के होस्टल सुपरिन्टेडेन्ट भी हैं। सामान वगैरह के खरीदफरोख्त में यह स्कूल के अध्यापक मंडल में सबसे अधिक चतुर समझे जाते हैं। बनियाइन, धोती और खूटीदार खड़ाऊँ इनकी साधारण पोशाक है। छोटे दर्जे के लड़के चौधरी साहब के नाम से थरथर काँपते हैं। परन्तु चौधरी साहब में एक विशेषता भी है, चाहे वह गुण हो या दोष। वे आवश्यकता से अधिक अधिकारियों की हाँ में हाँ मिलाते हैं। स्कूल का मैनेजर यदि रात को दो बजे भी चौधरी साहब को याद करे तो वे नहीं नहीं कह सकते।

चौधरी साहब ने होस्टल का रजिस्टर पास के स्टूल पर रखते हुए उत्तर दिया—क्या बताऊँ पंडित जी! आजकल के लड़कों में जिस तरह की हवा फैल रही है, उससे तो आसार बहुत खराब नजर आते है। लखनऊ में ही देखिए, पुलिस को मजबूरन लड़कों के ऊपर लाठी चार्ज करना पड़ा। बताइए, आजाद हिन्द सेना दिवस मना कर कौन से सुर्खाब के पर लग गये लड़कों में। उन्हें तो पुलिस की लाठियाँ खाने में मजा आता है!

बाबू धर्मात्माराम वैश्य, जो अभी तक अपने पुत्र रमेशचन्द्र के कान में घर के लिये कुछ सन्देसा कह रहे थे, बोल उठे—हाँ साहब, यह भी कोई खेल है? आज को पुलिस से भिड़ते हैं, कल हमारे ऊपर हाथ उठाने लगेंगे, परसों और आगे बढ़ जायेंगे! बोलो, चुपचाप रहें तो क्या नुकसान हो?

चौधरी साहब—और क्या! चले हैं पढ़ने के लिए और करते

हैं गुंडई। ऐसे लड़कों को तो चुन चुन कर गोली से उड़ा देना चाहिए। आप ही बताइए पंडितजी, किसी शास्तर पुराण में आपने अभी तक पढ़ा कि तालिबइल्म पालिटिक्स में हिस्सा लें? हम लोगों के वक्त में तो कोई ऐसी बात का नाम भी ले तो तोबा बोलिए!

मौलबी मजाहिरहुसैन ने चौधरी साहब की बात को दाद देते हुए कहा—हाँ मास्टर साहब, भला किसी की मजाल थी कि सियासत का नाम भी ले। यह तो कहिए, जमाने की तब्दीली है, वरना हमारे जमाने में तो बुजुर्ग भी सियासत के मामलात से हमेशा दूर रहते थे। मेरे मामू तो आजकल भी कहा करते हैं कि सियासत में हाथ डालना साँप के माँद में हाथ डालना है!

चौधरी साहब—हमारे शास्तरों में तो साहेब लिखा है कि राजा ईश्वर समान है। राजा से द्रोह करके आदमी नरक में भी स्थान नहीं पाता। यह नया फैशन जो कराये वह कम!

इधर पंडित जी ने नया शिगूफा छोड़ा।

उनकी यह आदत है कि दो आदमियों में बहस छिड़वा कर दूर से तमाशा देखें। त्रिगुट्ट की टाँय टाँय सुन कर उनकी हँसी रोके न रुकी। एक जोर का कहकहा लगाते हुए उन्हों ने कहा—अच्छा भाई, छोड़ो भी इन बातों को। यह बताओ कि अब तो कांग्रेस की मिनिस्ट्री आने वाली है!

बात को बीच से ही काटते हुए मौलवी साहब बोल उठे—तोबा

पंडितजी, यह तो वाकई आपने बहुत बुरी खबर सुनायी !

चौधरी साहब—अरे पंडितजी, इन लोगों को इन्तजाम करना आता भी है कि मिनिस्ट्री ही करेंगे। मेरी बात गाँठ बांध लीजिए, जब इनकी मिनिस्ट्री होगी, देखिएगा, दंगा फसाद रोज बरोज जोर पकड़ेगा। अभी उसी दफे देखिए, जब सन् ३७ में पन्थ जी की मिनिस्ट्री बनी थी, एक दिन भी ऐसा नहीं बीता जब हिन्दू मुसलमान का झगड़ा न हुआ हो। मैं कहता हूँ कि सचमुच हिन्दुस्तानियों की अक्ल मारी गयी है। नहीं तो बर्त्तानियाँ ऐसी सरकार पाकर भी जो दूध का दूध और पानी का पानी कर दे, यह लोग सुराज सुराज क्यों चिल्लाते ?

वैश्य जी— हाँ साहब, अँग्रेज सरकार न होती तो काहे को हमें रेल तार हवाई जहाज नसीब होते ? वे बिचारे तो कितनी तकलीफें सहकर हमें आराम पहुँचाने की कोशिश करते हैं, और एक हम कि हमेशा उन्हीं के पीछे पड़े रहते हैं। बोलो, जब हम आजादी के काबिल होंगे तो वे खुद न देंगे जो माँगें। उसके पीछे सत्ती होने से क्या फायदा ?

इतने में राममनोहर सक्सेना आ गये। अचकन और चूड़ीदार पायजामा पहिने हुए थे। बोले—अच्छा मास्टर साहब, तो मैं जरा तहसीलदार साहब के यहाँ हो आऊँ। इसी वक्त बुलाया था। तब तक आप लोग बैठिए। मैंने सुरिया से चाय लाने को कह दिया है, लाता ही होगा।

इतना कहकर वे साइकिल पर सवार हो चल दिये। उनके

जाते ही वैश्य जी ने चौधरी सा[illegible] पूछा—मास्टर साहब, यह जो नये तहसीलदार साहब [illegible] हैं, कैसे हैं ?

चौधरी साहब—भैया, हाकिमों की कुछ न पूँछो। सभी अच्छे और सभी खराब !

सैयद मजाहिर हुसैन बोले—लेकिन भाई चाहे मानों चाहे न मानों, यह हाकिम है अच्छा ! अभी कल जब मैं सलाम करने गया था तो बड़ी अच्छी तरह मिला वह तो मेरे टट्टू को देखकर ललचाता था; कहता था कितने में लिया !

वैश्य जी—हाँ, चीनी बीनी दे देता है, वरना हम लोगों को कौन पूँछने वाला था। मैंने तो अपने घर में कह दिया है कि कभी कभी तहसीलदार साहब के यहाँ सेवा टहल कर आया करो। अरे पंडित जी, यही भाग है। नहीं तो हम लोगों के भाग में हाकिमों की सेवा कहाँ बदी ?

तभी पंडित श्यामनरेश ने बात काटी। बोले—अच्छा वैश्यजी, यह कन्ट्रोल आखिर कब तक उठेगा ? पूँछो, लड़ाई खतम हो गयी और यह ज्यों का त्यों !

चौधरी साहब—अरे पंडित जी, यह सब हम आपके कारण है। न हम बिलेक करते, न सरकार बहादुर हम पर कन्ट्रोल लादती। और फिर पंडित जी, साफ साफ कहता हूँ, मेरे पास खुद इतना अन्न भरा है गाँव में कि खुले खजाने बिलेक कर हजारों कमा लेता। दारोगा साहब अपने जान पहिचान के हैं न, इससे कोई डर नहीं, नहीं तो.....

मौलवी साहब ने ... मिलाया—और क्या, बेकार की जहमत। मेरे अब्बाजान का ... ग्राम था कि कभी किसी के साथ बदी मत करो।

पंडित जी ने बात का रुख बदला—अच्छा मौलवी साहब, सुनते हैं मौलाना आजाद मुस्लिम लीग से मिलने वाले हैं.....

चौधरी साहब -सच पंडित जी? तब तो सचमुच उनका दिमाग आला काबिल है। सभी लोग जो समझदार होते हैं, सियासत की छाया भी नहीं छूते। ना समझदारों की बाबत क्या कहूँ, हमारे ही यहाँ देखिए कोई एक बड़े भारी जोगी हैं, अच्छा सा नाम है, हाँ, अरविन्द घोष। सुनते हैं पहिले वह भी गुंडागीरी में भरती हो गये थे, लेकिन बच्चू को उससे भागना ही पड़ा। अब देखिए, कितने मशहूर हो रहे हैं। सुनते हैं, बड़े बड़े अंग्रेज उनके दर्शनों को जाते हैं!

पंडित श्यामनरेश--पर वह तो साल में एक बार से अधिक अपनी गुफा से निकलते ही नहीं, इससे बहुत लोगों को बिना दर्शन ही लौट आना पड़ता है!

वैश्य जी--तो उसे जरूर कुछ घमंड हो गया है, वरना पूछिए, अंग्रेज आये हमसे मिलने और हम वो कि उनको सलाम तक न करें! यह भी कोई बात है?

पंडित जी--अच्छा चौधरी साहब, सुनते हैं हमारे यहाँ के लड़के भी कुछ उपद्रव मचाने वाले हैं। आपने कुछ सोंचा है?

चौधरी साहब--उसने सोंचना क्या है? हमारे बोर्डिंग के

ही कुछ लड़के कल मुझसे कहने [illegible] सुभाष दिवस मनाने के लिए एक दिन की छुट्टी दे [illegible] वह मर गये हैं और हम लोगों ने अब तक उनका दिन नहीं मनाया। मैंने तो साफ साफ कह दिया, सुभाष क्या, गांधी जवाहरलाल कोई भी मर जायें, मैं छुट्टी नहीं देने का। छुट्टी भी क्या है, एक खेल तमाशा है। आज यह मर गये छुट्टी चाहिए, कल वह पैदा हुए, छुट्टी चाहिए!

वैश्यजी--हाँ मास्टर साहब। फिर आप सोचिए, सरकार खुद ही हमें कितनी छुट्टी देती है। इन लौंडों को तो साल भर की छुट्टी मिले तो भी जी न भरे। देखिए, अभी कुछ ही दिनों पहिले सरकारे-बरतानियाँ की फतह पर एक हफ्ते की छुट्टी मिली थी। और फिर मास्टर साहब, झन्डा लिये बीच बाजार में नाचना गाना भी कोई शराफत है? पुराने जमाने में लड़के एक दूसरे के सामने मुँह तक नहीं खोलते थे, और आज सबके सामने नाचें गायें?

इतने में सुरिया चाय और गरमागरम पकौड़ियाँ ले आया और गला ठंडा कर सब अपने अपने दरबों की ओर चल दिये।

# दाँत

मेरे पड़ोसियों में मुन्शी बख्तावरलाल से बढ़कर धार्मिक अन्य कोई नहीं था। जाड़े के दिनों में भी सुबह चार बजे उठकर ठंडे पानी से स्नान करना, और फिर पूरे दो घंटे सिर्फ एक महीन धोती पहिन कर पूजा पाठ में संलग्न रहना अपने को सनातन धर्म का परम भक्त घोषित करने वाले व्यक्तियों को नहीं, तो कम से कम मेरे लिये तो एक कल्पनातीत बात है, पर मुन्शीजी का तो यह नित्य नियम था। वे ब्राह्मण नहीं कायस्थ थे, और वह भी सक्सेना कायस्थ, पर तो भी उनका यह दावा था कि कठिन से कठिन बीमारी के अवसर पर भी उन्होंने अपने इस नियम को नहीं त्यागा, और जहाँ तक मेरी अपनी जानकारी का प्रश्न है, मैं उनकी इस बात में किंचित भी सन्देह नहीं कर सकता हूँ। दिसम्बर और

जनवरी की ठिठुरती हुई सरदी में अलल सुबह जब हम जैसे लोग रजाई के अन्दर मुँह बन्द कर खर्राटे लेते हैं, मुन्शीजी जोर जोर कुछ न कुछ पाठ करते हुए पाये जाते। इसी बात पर कभी कभी उनसे मेरी जोरदार झड़प भी हो जाती थी। ठीक साढ़े चार बजे सुबह आपके सोने के कमरे के नीचे यदि कोई ऊँची आवाज में चिल्लाकर आपके कान फाड़ने की कोशिश करे, और वह भी तब जब आप अपनी नींद की मधुर खुमारी का आनन्द लेने में मस्त हों, तो वह आपको कुछ सुखद नहीं प्रतीत होगा। और फिर यदि मुन्शी जी का स्वर ही कुछ मधुर होता या उन्होंने गान विद्या का ही ककहरा सीखा होता, तो सम्भवतः मैं उन्हें क्षमा भी कर सकता था, पर यहाँ तो ईश्वर ने भी उनके साथ मजाक किया था और उन्हें ऐसी आवाज दी थी जिससे होड़ करने में गर्दभ भी एक बार चौंक जाये।

यों यदि कोई मुझसे पूँछे, तो मैं बख्तावरलाल को कुछ बुरा नहीं कहूँगा। उनका हृदय साफ था। सनातनधर्म में अटूट श्रद्धा थी। हर पूर्णिमा और एकादशी को सत्यनारायण की कथा बिना सुने मुँह में पानी भी न उतारते थे। तीर्थ स्थानों को तो वे अक्सर जाया करते, कभी प्रयाग, कभी काशी, कभी अयोध्या। वहाँ वे हफ्तों रहते। लौटते तो कुछ न कुछ प्रसाद अवश्य लाते, और उसे जब तक वे हम लोगों में बाँट न देते उन्हें चैन न पड़ता। भगवान ने धर्म दिया था, तो धन की भी कोई कमी नहीं थी। उनके द्वार पर रोज ही कोई न कोई साधुसन्त टिका रहता। यथासम्भव वे उसके स्वागत सत्कार में भी कोई कमी नहीं उठा

रखते। ऐसे समय वे मुझसे कहते—यही तो जीवन है अमर बाबू। नहीं तो हजारों लाखों आदमी रोज पैदा होते हैं और मरते हैं, पर उनकी जिन्दगी किस काम की। भगवान ने मानव योनि दी है तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम उसके योग्य बने, नहीं तो परलोक में पहुँचकर हम किस मुँह से उसके सामने उपस्थित होंगे! प्राचीन काल में भगवान साक्षात दर्शन देते थे, आज उन्होंने साधुसन्तों को हमारे पास भेजा है। उनकी सेवा भगवान की सेवा है। उसी से हमारा जीवन सफल हो सकता है। साधुसन्त ही कलि की वैतरणी हैं, अमर बाबू.....और इतना कहकर वे गद्‌गद् हो जाते, उनकी आँखों से अश्रुधाराएँ फूट निकलतीं, और बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ वे रामायण की किसी चौपाई का पाठ करने लगते।

सच पूँछा जाये तो धर्म में मुझे अधिक रुचि नहीं, खासतौर पर उसके आजकल प्रचलित रूप में, पर पता नहीं क्यों मुन्शी बख्तावरलाल की भावनाओं का मैं अनादर नहीं कर पाता था। यह मेरी कमजोरी रही हो या पड़ोस में रहने का असर, मैं नहीं जानता, पर जब कोई बड़ा साधु महात्मा आता और मुन्शीजी मुझे आमन्त्रित करते, तो उनके प्रेम से किये आग्रह को टालने की शक्ति मैं अपने में नहीं पाता।

बाबा भजसुखदास से मेरी पहिली मुलाकात वहीं हुई थी। मुन्शीजी उन्हें अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। बढ़ी हुई जटाएँ, बदन पर वस्त्र के नाम पर एक छोटा सा कौपीन, देखते ही सहम जाने वाली आकृति। बाल ब्रह्मचारी थे। दस वर्ष

की उम्र में ही घर से निकल भागे थे और तब से उसका मुँह नहीं देखा था। लोग कहते थे, ऋद्धि सिद्धि उनके आगे पानी भरती हैं, उन्हें किसी बात की कमी नहीं। बड़े बड़े राजा महाराजा, सेठ साहूकार उनकी कृपा कटाक्ष के अभिलाषी थे, वे चाहते तो आज सोने के महल खड़े कर सकते थे, पर साधुसन्तों को लक्ष्मी से क्या सरोकार? पैसों को अपने हाथ से छूते तक नहीं थे। रमते राम थे। यों उनका अखाड़ा तो काशी के किसी मन्दिर में था, पर साल में नौ महीने वे अपने भक्तों के यहाँ ही व्यतीत करते थे। आज यहाँ, तो कल वहाँ। एक सप्ताह से अधिक किसी नगर में नहीं ठहरते थे, वह भी लोगों के बहुत आग्रह पर। मुन्शी बख्तावरलाल पर उनकी विशेष दया थी। जब कभी इस ओर आते, बिना पाँच सात दिन मुन्शीजी के पास रहे उनका हृदय नहीं मानता। मुन्शीजी भी सेवा में कोई कोर कसर नहीं उठा रखते। सत्संग होता, भगवान का नाम लिया जाता, रामचर्चा होती। जितने दिन बाबा भजसुखदास मुन्शी जी के यहाँ रहते, एक अच्छा खासा दरबार लगा रहता।

ऐसे मौकों पर जब मुन्शी बख्तावरलाल मुझे बुलाने आते, तो जाना ही पड़ता। मुझे अभी तक वह दिन याद है जब मुन्शीजी मुझे पहिले पहिल बाबा भजसुखदास से मिलाने ले गये थे। जब मैं वहाँ पहुँचा था, बाबाजी स्नान संध्यादि से निवृत्त होकर आये ही थे। उनके तख्त पर एक मखमली कालीन बिछा हुआ था और उसी पर मसनद के सहारे वे आधे लेटे हुए थे। सर की ओर दो स्त्रियाँ उनको पंखा से हवा कर रही थीं, हाथ पैर दबाने का

काम श्रद्धालु भक्तों ने अपने जिम्में ले लिया था। तख्त के नीचे चटाइयाँ बिछी थीं, जिन पर दर्शकगण बैठे थे। मुझे भी उन्हीं के बीच जगह दी गयी थी।

जब बाबा भजसुखदास को मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया, तो उन्होंने भी आधी आखें मूँद कर मुझे आशीर्वाद देते हुए कहा था—सुखी रहो बेटा! मेरा परिचय मुन्शी बख्तावरलाल ने दिया था—महाराजजी, यह मेरे पड़ोसी है, अमर बाबू। अखबार निकालते हैं। आपकी शरण में आये हैं महाराज, कुछ उपदेश सुनने के लिये। अमृत वर्षा हो!

मुन्शी जी की बात खतम होने के पहिले ही भजसुखदास ने सवाल किया था—भगवद्भजन करते हो बेटा?

"हाँ करता तो हूँ महाराज", मैंने उत्तर दिया था, "लेकिन मैं वेदशास्त्र नहीं पढ़ता हूँ। अभी मैंने हवा में उड़ना नहीं सीखा है। मेरे लिये तो मनुष्य ही भगवान हैं और मैं उन्हीं की सेवा को भगवद्भजन समझता हूँ....."

"नास्तिक है पूरा तू," बाबा जी गरज उठे थे, "ऐसे व्यक्तियों को मेरे दरबार में क्यों लाते हो बख्तावरलाल? जिसे ईश्वर पर श्रद्धा नहीं वह देखने लायक भी नहीं। दृष्टिस्पर्श से भी पाप होता है....."

मेरा यह स्पष्टवाद मुन्शीजी को नहीं पसन्द आया था। दूसरे दिन जब मेरे पास आये तो बोले—आपने अच्छा नहीं किया अमर बाबू, सन्तों की बात आप नहीं जानते। अच्छा बुरा सब

उनके हाथ में रहता है, जब चाहें जो कर दें। बाबा जी तो देवतास्वरुप हैं, वे किसी का बुरा थोड़े ही चाह सकते हैं ?

और मेरे बहुत इन्कार करने पर भी वे मुझे पकड़ ही ले गये। संयोग से उस दिन वहाँ बहुत भीड़ थी और चटाई पर जगह नहीं थी, इससे मैं पास से एक कुरसी खिसकाकर उस पर बैठ गया। यह मैंने किसी उद्देश्य विशेष से नहीं किया था, पर मेरे इस कृत्य पर भक्तों ने जब मुझे घूरना शुरू किया तो मुझे अपनी गलती मालूम हुई। एक ने कहा भी, 'महाराज के सामने कुरसी पर बैठते हो ?' पर बाबाजी ने उसे शान्त कर दिया। मुझे लगा, जैसे उनका कल का गुस्सा धीमा पड़ गया हो। बोले— बैठा रहने दो, उसके ऊँचे बैठ जाने से मैं छोटा थोड़े ही हो जाऊँगा। ईश्वर को कोई छोटा नहीं कर सकता। सूरज पर जो थूकेगा उसी पर थूक गिरेगा.....

उसी समय एक नया मसला पेश हुआ। मुन्शी बख्तावर-लाल के घर में उनका एक निकट सम्बन्धी नवयुवक रहता था जिसका पड़ोस की किसी विधवा लड़की से प्रेम हो गया और वे दोनों विवाह करना चाहते थे। बख्तावरलाल इसके विरोधी थे, और इसीलिये उन्होंने यह समस्या बाबाजी के सम्मुख उपस्थित की थी। उस समय का बाबाजी का रौद्ररूप अब तक मेरी आँखों के सामने है, वे गरज रहे थे—विधवा से विवाह करना चाहता है ? शर्म नहीं आती तुझे ? धर्म तो, लगता है, इस दुनियाँ से उठ ही गया। ऐसे ही लोगों से तो यह दुनिया रसातल को जा

रही है। और फिर विधवा ही होती तो कोई वैसी बात नहीं थी, वह तो तेरी जाति की भी नहीं है.....हा राम..... !

बाबाजी के जाने के एक सप्ताह बाद ही मुझे भी मुन्शी बख्तावरलाल के पड़ोस से चला जाना पड़ा, क्योंकि मुझे अपने दफ्तर के पास ही एक अच्छा मकान मिल गया था। मेरे नये मकान में आने के बाद मुन्शी बख्तावरलाल स्वयं कभी कभी मेरे यहाँ आ जाते थे, पर जब लगातार छः महीने तक उनका पता नहीं चला तो मुझे कुछ चिन्ता हुई। एक दिन मैं उनके यहाँ गया भी, पर वे थे नहीं। उनके पुत्र द्वारा मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने विगत कुम्भ के अवसर पर बाबा भजसुखदास के हाथों वैराग्य ले लिया है और अब उन्हीं की सेवा में रहकर राम भजन करते हैं।

आज जब एक आवश्यक कार्यवश दफ्तरसे छुट्टी लेकर मैं घर जाने की तैयारी कर रहा था, मुझे मुन्शी बख्तावरलाल का एक पत्र मिला। मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरे नाम यह उनका पहिला पत्र था। पत्र लम्बा था, इससे मैं उसे साथ ही स्टेशन लेता आया। गाड़ी चलने पर मैंने उसे पढ़ना शुरू किया। उसका प्रारम्भ का हिस्सा यों है—

प्रिय अमर बाबू,

आपको सम्भवतः मालूम हो गया होगा कि कुम्भ के अवसर पर जब मैं प्रयाग गया था, बाबा भजसुखदास ने मुझे वैराग्य ग्रहण करने के लिये बाध्य कर दिया। उनका कहना था कि कुम्भ से अधिक उपयुक्त अवसर मुझे दूसरा कोई न मिल सकेगा, और फिर गंगा यमुना सरस्वती के पवित्र संगम पर वैराग्य ग्रहण करने का सौभाग्य बिरलों को ही प्राप्त होता है। मेरी इच्छा साधु बनने की तो थी, पर इतनी जल्दी, अचानक, नहीं। पर जब बाबा जी ने मेरे सम्मुख यह प्रस्ताव रक्खा और अन्य साथियों ने इसका समर्थन किया तो मैंने भी सोचा कि जब एक दिन इस मार्ग पर आना ही है तो यही समय क्या बुरा है! अच्छा काम जितनी जल्दी हो, अच्छा ही होता है। फलतः बाबा भजसुखदास ने मुझे गुरुमन्त्र दिया, और आज मैं आपका पुराना बख्तावरलाल नहीं, रामभजदास हूँ!

जिस दिन मैं साधु हुआ, उसी दिन मैंने अपना सब रुपया पैसा गुरुजी के चरणों में अर्पित कर दिया था। पर कुछ ही दिनों उनके साथ रहने पर मुझे यह अनुभव हो गया कि मैं धोखे में था। यह बाबाजी वे नहीं हैं जो मेरे यहाँ आया करते थे। इनका तो रूप ही दूसरा निकला!

साधु बनने के बाद मुझे ज्ञात हुआ कि गुरुजी के नाम बैंक में एक लाख रुपये से अधिक जमा हैं। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ क्योंकि वे तो पैसों को हाथ से भी नहीं छूते थे, पर पता

लगाने पर ज्ञात हुआ कि यह सब केवल दिखावा था। अभी पिछले ही महीने जब एक सेठ उन्हें पाँच हज़ार रुपये दे रहा था तो सबके सामने नहीं लिया, पर पीछे अलग बुलाकर उससे कहा —यदि तेरी बहुत इच्छा है तो दे ही दे। तेरी श्रद्धा पर मैं कुठाराघात करना नहीं चाहता'''भगवान के काम में लगा दूँगा... और उसके बाद वे रुपये उनकी बैंक की किताब में गये।

अधिक क्या लिखूँ, मैंने तो यहाँ तक सुना है कि सैकड़ों स्त्रियों का सतीत्व इन्होंने नष्ट किया है। स्त्रियों को वे जो अकेले दर्शन देते थे, उसका मतलब अब मैंने समझा.....

अचानक एक छोटे से स्टेशन पर गाड़ी एक जोर के धक्के के साथ आकर रुक गयी। मुन्शी बख्तावरलाल के खत के साथ ही मेरी नजर सामने बरामदे में लगी कुछ लाल लाल बालटियों पर एकाएक अटक गयी। उन पर मोटे मोटे हरूफों में लिखा था, फायर.....आग, पर उनके अन्दर था पा.....नी.....